श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः

रजिस्टर्ड

प्रेम रस सिद्धांत

कृपालु दास

गोलोकधाम रजिस्टर्ड नं० १८१६/ VII २०३३५

वृन्दावन-विहारिणे नमः

प्रेम रस सिद्धांत

लेखक

कृपालुदास

प्रकाशक

गोलोकधाम, ५५/८३ नयागंज, कानपुर

प्रथम बार] संवत् २०११ [मूल्य २)

विषय-सूची

प्राक्कथन

इस पुस्तक में मैंने क्या लिखा है? यह तो आप लोगों को पढ़ने से ज्ञात ही हो जायगा। इस पुस्तक को मैंने क्यों लिखा है? यह प्रश्न बड़ा ही जटिल सा है, क्योंकि यदि मैं कहूँ कि जीव-कल्याण के लिये लिखा है, तो आप लोगों में से कुछलोग कह सकते हैं—"बड़ा महापुरुष का दादा बना है, जो जीव-कल्याण का कार्य करने चला है।" यदि मैं कहूँ—"ऐसे ही कुछ टूटे फूटे शब्दों की बकबक लिख दी है", तो कुछलोग कह सकते हैं कि व्यर्थ ही ऐसी अनधिकार-चेष्टा करने की क्या आवश्यकता थी?" यदि मैं कहूँ—"मुझे श्रीराधा-कृष्ण की प्रेरणा हुई थी, स्वप्न हुआ था, या आदेश हुआ था" तो भी कुछलोग कह सकते हैं कि श्रीराधा-कृष्ण का बड़ा अन्तरंग बनता है, जो इसको प्रेरणा आदि हुई है। अतएव मैं क्या कारण बताऊँ? मेरी बुद्धि में नहीं आता, जिसे कि सबलोग मान लें।

इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे प्रवचनों को सुन-सुन कर, अधिकांश लोगों ने कहा कि महाराज जी! यदि ये सब प्रवचन छप जाँय, तो बड़ा लाभ हो। मैंने बिना कुछ सोचे बिचारे ही लोगों के कहने में आकर, जो बुद्धि में आया, लिख दिया। साथ में शास्त्रों, वेदों, पुराणों एवं अन्यान्य धर्मग्रन्थों तथा महापुरुषों के आप्त-

प्रमाण भी लिख दिये। अब जो कुछ भी है, आप लोगों के समक्ष है। मुझ अकिंचन की भेंट को स्वीकार कीजिये, एवं मुझे आशीर्वाद दीजिये कि मैं श्रीराधाकृष्ण-चरणारबिन्दमकरन्द का यत्किंचित पान कर सकूँ।

अब मैं, एक भागवत के श्लोक-द्वारा बन्दना करते हुये प्राक्कथन को समाप्त करता हूँ: —

'नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्"

प्रयाग।
वसंतपंचमी
सन् १९५५

कृपाकांक्षी—

कृपालुदास

जीव का चरम लक्ष्य

मैं जिस विषय में कुछ निवेदन करने जा रहा हूँ, वह विषय यद्यपि अनिर्वचनीय है अर्थात् शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता तथापि यह विश्वास है कि निष्पक्ष भाव से मनन करने पर कुछ न कुछ लाभ अवश्य होगा, यदि कोई त्रुटि हो तो बुध जन क्षमा करेंगे।

सर्व प्रथम यह विचार करना है कि हम लोग चाहते क्या हैं? पुनः यह विचारणीय है कि जो कुछ चाहते हैं वह प्राप्त कैसे होगा? बस इन दो ही प्रश्नों के हल हो जाने पर समस्त प्रश्न स्वतः ही हल हो जायेंगे। यदि हम समस्त विश्व के समस्त जीवों से पृथक् पृथक् प्रश्न करें कि "आप क्या चाहते हैं?" तब संसार के समस्त जीव केवल एक ही उत्तर देंगे, वह यह कि हमें तो केवल आनन्द चाहिये। इसी आनन्द के नामान्तर शांति, सुख, आदि अनेक हैं। इस सम्बन्ध में कुछ विचारणीय बात अवश्य है, जैसे कि कुछ लोग तो केवल दुःख निवृत्ति ही चाहते हैं एवं कुछ लोग दुःख निवृत्ति के साथ साथ आनन्द प्राप्ति भी चाहते हैं। तथा कुछ लोग केवल आनन्द प्राप्ति ही चाहते हैं। इन तीनो ही प्रकार के चाहने वालों में केवल आनन्द प्राप्ति के चाहने वाले ही परम बुद्धिमान् माने जाते हैं। क्योंकि आनन्द प्राप्ति के परिणामस्वरूप दुःख निवृत्ति तो

स्वतः हो जाती हैं, जब कि दुःख निवृत्ति से आनंदप्राप्ति अनिवार्य नहीं है। सुषुप्ति (प्रगाढ निद्रा) अवस्था में क्षणिक दुःख निवृत्ति देखी जाती है, किन्तु उसमें आनन्दप्राप्ति का सर्वथा अभाव रहता है, आत्यंतिक दुःख निवृत्ति को ही कतिपय लोगों ने मोक्ष बताया है जो कि उच्च कोटि के रसिकों के दृष्टिकोण से अवांछनीय है। इसका स्पष्टीकरण आगे चल कर होगा।

उपरोक्त विचार विनिमय से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि आनन्द प्राप्ति का ही लक्ष्य सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य है। इस आनन्द प्राप्ति के अतिरिक्त हम लोग चार वस्तुओं को और चाहते हैं जो कि वस्तुतः आनन्द के ही अन्तर्गत हैं,

उदाहरणार्थ (१) हम जीवन चाहते हैं। हमें मृत्यु स्वाभाविक रूप से प्रिय नहीं। यदि किसी को मरते हुये देखते हैं तो कुछ आश्चर्य या दुःख सा होता है तथा हम प्रश्न कर बैठते हैं कि क्या अमुक व्यक्ति मर गया ? कैसे मर गया ? कब मर गया ? इत्यादि। बुद्धि भ्रष्ट होने पर ही अविवेकी अपनी इच्छा के विपरीत कहीं कहीं ही आत्म-हत्या करता हुआ पाया जाता है। इस से यह निश्चित हो जाता है कि हम लोगों का स्वभाव मरण नहीं वरन् जीवन है। (२) हम लोग समस्त विषयों का संपूर्ण ज्ञान भी चाहते हैं। हम किसी को भी अपने से अधिक ज्ञानी देख कर खिन्न होते हैं। तथा ऐसा सोचने लगते हैं कि किसी प्रकार हमको भी इतना ज्ञान प्राप्त हो जाता। साथ ही हम लोग प्रति क्षण अधिकाधिक ज्ञानोपार्जन में लगे रहते हैं। इससे यह निश्चित हो जाता है कि हम

लोग समस्त विषयों का पूर्ण ज्ञान चाहते हैं। अतएव विशेष ज्ञान प्राप्त होने पर भी हम लोग तृप्त नहीं होते। तात्पर्य यह कि हम लोगों का स्वभाव सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है। (३) हम लोग समस्त विश्व पर शासन करना चाहते हैं। यदि हमारी बात कोई नहीं मानता तो हमें दुःख होता है। (४) हम लोग स्वतंत्रता चाहते हैं। हमारे ऊपर कोई शासन करे यह हमें प्रिय नहीं वह शासन चाहे काल, कर्म, स्वभाव, गुण, व्यक्ति आदि का ही क्यों न हो। इससे प्रतीत होता है कि हम लोगों का स्वभाव स्वतंत्र रहना है, किन्तु यह ध्यान रहे कि इन उपरोक्त पदार्थों का लक्ष्य एक मात्र आनन्द प्राप्ति ही है। वेदान्त आदि में इन्हीं पाँच स्वभावों से युक्त शक्ति को ईश्वर कहा गया है अतएव उस अंशी ईश्वर का अंश स्वरूप जीव का भी स्वभाव उपरोक्त पाँचों लक्षण से युक्त होता हैं। इसमें जीवन स्वभाव को (सत्) ज्ञान स्वभाव को (चित्) एवं आनन्द स्वभाव को, जिसके अन्तर्गत स्वतंत्र रहना, शासन करना, भी है (आनन्द) कहते हैं, अतएव शास्त्रों में ईश्वर का नाम सच्चिदानन्द रखा गया है।

यदि कोई अल्पज्ञ कहे "मैं तो उपरोक्त पाँच वस्तुओं को नहीं चाहता, मुझे तो धन, पुत्र, स्त्री, प्रतिष्ठा आदि चाहिये" उसे यह जान लेना चाहिये कि वह धन, पुत्र, आदि जो भी चाहता है, केवल आनन्द प्राप्ति के ही साधन स्वरूप हैं, अर्थात् वह धन, पुत्र, आदि के द्वारा ही आनन्द प्राप्ति चाहता है, अतएव समस्त विश्व का समस्त जीव आनन्द प्राप्ति के सिवा कुछ भी नहीं चाहता। वह

चाहे कितना ही मूर्ख क्यों न हो, अपना स्वभाव नहीं छोड़ सकता। सच्चिदानन्द स्वरूप ही समस्त जीवों का स्वभाव है।

एक विचारणीय विषय इसी सम्बन्ध में और भी है वह यह कि हम लोग आनन्द तो चाहते हैं, किन्तु सीमित आनन्द नहीं चाहते क्योंकि सीमित आनन्द तो न्यूनाधिक मात्रा में सभी जीवों को प्राप्त है। जो आनन्द राजरानी को अपने राजकुमार के आलिङ्गन में प्राप्त होता है, वही आनन्द एक भिखारिन को अपने काणे पुत्र के आलिङ्गन में भी प्राप्त होता है, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि विशेष संपत्तिशाली को ही सांसारिक सुख मिलता है। उपरोक्त सीमित आनन्द से कोई भी जीव तृप्त नहीं होता, इससे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि हम लोग असीम सुख भी चाहते हैं एवं वह असीम सुख भी सदा के लिये चाहते हैं। कुछ लोगों का ऐसा मत है कि कहीं स्वर्ग है जहाँ कि इस मृत्यु लोक से भी महान् सुख है। अस्तु, मान लीजिये कहीं स्वर्ग है ही, किन्तु वे ही महानुभाव यह भी कहते हैं कि वह स्वर्ग भी क्षण भंगुर एवं सीमित सुख वाला है। वहाँ भी अज्ञान, शोक, भय आदि का बोलबाला है।

दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाःक्षुद्रानंदाः शुचार्पिताः

आद्यंतवंत एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः (भा० ११-१४)

"स्वर्गहु स्वल्प अंत दुख दाई" (रामायण)

इससे स्वर्ग मानने वालों की ही उक्ति से यह सिद्ध हो जाता है कि हम भौतिक प्रत्यक्ष संसार के सुखों से लेकर दिव्य स्वर्गा-

दिक लोकों के सुखों से भी तृप्त नहीं हो सकते। अतएव हमें अब यह पता लगाना है कि वह अनंतसुख कहाँ मिलेगा? तथा कैसे मिलेगा? सुना जाता है कि उस अनंत सुख का ही दूसरा नाम भगवान् है। तात्पर्य यह कि वह सुख एक मात्र भगवान् के ही पास है एवं उन्हीं के द्वारा प्राप्त हो सकता है अन्य कोई उपाय नहीं। आइये, थोड़ा इस विषय पर भी विचार कर डालें, क्योंकि जिस आनन्दप्राप्ति के निमित्त प्रत्येक जीव प्रति क्षण प्रयत्न कर रहे हैं उस आनंद की प्राप्ति के विषय में किञ्चित् भी विचार विमर्श न करना बहुत बड़ी भूल है।

॥ भगवान् का अस्तित्व ॥

अनादि काल से यह प्रश्न छिड़ा चला आ रहा है कि भगवान् हैं या नहीं? तथा इस विषय में सदा से ही बड़ी बड़ी मीमांसायें होती चली आ रही हैं, एवं आगे भी चलेंगी तो फिर हम लोग भी वर्तमान काल में इस विषय में कुछ विचारविमर्श क्यों न करें। देखिये, क्या विचित्र सी बात है कि अनन्तसुख तो अनंत काल के लिये समस्त जीव चाहता है, तथा प्रति क्षण उसके लिये अनादि काल से प्रयत्न भी करता चला आ रहा है पर कहता यह है कि मैं अनन्तसुख को तो मानता हूँ पर अनंत सुख के पर्यायवाची शब्द भगवान् को नहीं मानता। तात्पर्य यह कि जिस भगवान् के द्वारा अनंतसुख प्राप्त होता है उस अनंतसुख को तो मानता हूँ पर भगवान् को नहीं मानता। यह बात तो ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है,

किन्तु बोलता अवश्य हूँ। मेरी माँ बांझ है, किन्तु मैं पैदा उसी से हुआ हूँ। अस्तु, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि यह सब कुछ तो अनजान एवं भोले बालक की उक्ति के समान ही है। महापुरुष तो नासमझ नास्तिकों की उपरोक्त बात सुन कर उनके भोलेपन पर बलि बलि जाते हैं। जैसे कि एक पिता के इस प्रश्न पर कि "आकाश कितना बड़ा है?,, एक भोला बालक अपने दोनों छोटे छोटे हाथों को फैला कर उत्तर में कहता है "इत्ता बला,, माँ बाप यह सुन कर प्रेम विभोर हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जब नास्तिक अपनी लघु बुद्धि के अनुसार कहता है कि भगवान् वगवान् कुछ नहीं है; तब महापुरुष हँस पड़ते हैं, और कहते हैं कि तू जिस अनन्त सुख को निरंतर ढूँढ़ रहा है, वही तो भगवान् है, तू नासमझी के कारण बकबक कितना भी किया कर, किंतु जब तक अनंत सुख के आश्रय भूत भगवान् को नहीं प्राप्त कर लेगा तब तक एक क्षण के लिये भी चुप नहीं रह सकता। यह दूसरी बात है कि यदि सही ढंग से ढूँढ़ेगा तो सही सुख पायेगा, यदि ग़लत ढग से ढूँढ़ेगा तो नहीं पा सकेगा। साथ ही यह भी निर्विवाद सिद्ध है कि ढूँढ़ना एक क्षण को भी बंद नहीं कर सकता, बस, यही तो एक बात है, जहाँ तू परवश है। अर्थात् तेरी आत्मा तेरी नासमझी के धोखे में नहीं आ सकती। तू कितने ही बड़े सीमित सुखों को प्रदान क्यों न करे, किंतु आत्मा सदा ही अपना स्पष्ट निर्णय दे देती है कि यह हमारा सुख नहीं है, हमें तो असीम सुख चाहिये। यही धंधा अनन्तानन्त कल्पों से चल रहा है, एवं

तब तक चलता रहेगा, जब तक कि तू अपने असीम आनन्द को नहीं प्राप्त कर लेगा ।

उपरोक्त विचार विनिमय से तो संसार का कोई भी ऐसा जीव हो ही नहीं सकता जो भगवान् को माने बिना रह सके। अर्थात् वास्तव में तो संसार का एक भी जीव एक क्षण के लिये भी नास्तिक हो ही नहीं सकता। वास्तविक रूप से तत्व ज्ञान न होने के कारण ही उसे लोग नास्तिक कहते हैं। क्योंकि उपरोक्त रीति से नास्तिक भी भगवान् को मानता एवं चाहता ही है। उसकी नासमझी यही है कि वह अपने असीम सुख को ससीम क्षेत्र में ढूँढ़ता है। ऐसे नास्तिक भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो कि शब्द को सुनते ही उसके प्रतिपाद्य विषय में भी विश्वास कर लेते हैं, जैसे कि एक भोला बालक "अमुक पेड़ पर एक भूत रहता है,, यह सुन कर वास्तव में ही भयस्वरूप भूत का विश्वास कर लेता है, वह कुछ तर्क नही करता, उसका हृदय कोमल होता है। ऐसे ही विश्वास को लोक में अंध-विश्वास कहते हैं। यह अंध-विश्वास सबसे उत्तम भी है तथा सबसे निकृष्ट भी है। यदि उसका अंध-विश्वास किसी वास्तविक महापुरुष के द्वारा सत्य वस्तु पर हुआ है तब तो वह सबसे उत्तम है, किंतु यदि उसका अंधविश्वास किसी अल्पज्ञ अथवा अज्ञ के द्वारा किसी असत्य वस्तु पर हुआ है तब वह सब से निकृष्ट भी है। एक महत्वपूर्ण बात और भी है कि यदि किसी महापुरुष के द्वारा भी त्य वस्तु पर विश्वास हुआ है, तब भी वह तब तक स्थायी न

हो सकेगा, जब तक कि तदनुसार साधना करके जीव उस अवस्था पर न पहुँच जाय, जहाँ पतन की संभावना नहीं है। अर्थात् अनुभव प्राप्त होने के पूर्व कुसंग में पड़ जाने का एवं विश्वास छूट जाने का विशेष भय है। अधिकांश रूप से महापुरुषों के संग में भी आये हुए भोले व्यक्ति एवं कोमल हृदया स्त्रियाँ बार बार विश्वास एव अविश्वास के झकोरों में झूला करती हैं। यदि कहीं अल्पज्ञों के प्रति असत्य वस्तु पर विश्वास हो गया तब तो वह अंध विश्वास पूर्णतया पतन की सामग्री ही बन जाता है। अतएव इस प्रकार का अंधविश्वास वस्तुतः महान् घातक है। क्योंकि अंतरंग परिवर्तन शील तीन गुणों से युक्त बुद्धि होने के कारण तथा बहिरंग कुसंग का वातावरण होने के कारण महापुरुषों के द्वारा सत्य अंधविश्वास भी स्थिर नहीं रह सकता।

दूसरे प्रकार के नास्तिक वे हैं जो तर्क आदि के द्वारा बोध होने पर ही विश्वास करते हैं ऐसे तर्कशील नास्तिक भी दो तरह के होते हैं। एक तो वे जो विषय को समझ लेने पर मान लेते हैं एवं आस्तिक बन जाते हैं, विवेकानंद, पाल आदि अनंत उदाहरण हैं। दूसरे वे जो प्रथम तो सुनना ही नहीं चाहते, यदि सुनते भी हैं तो समझना नहीं चाहते, यदि समझते भी हैं तो दुराग्रहवश स्पष्ट रूप से मानना नहीं चाहते, ऐसे लोगों को समझाना अर्थात् उनको आस्तिक बनाना किसी की भी सामर्थ्य से बाहर है, हाँ यह अवश्य है कि एक दिन वह अवसर अवश्य आयेगा जब कि वह आस्तिक बन जायगा। यदि कोई

कहे कि महापुरुष समस्त जीवों को आस्तिक बना सकता है तो विचारणीय यह हो जाता है कि अनादिकाल से अनंतानंत महापुरुषों के सर्वदा रहने पर भी नास्तिकों का बीज ही नष्ट हो जाना चाहिये था।

महापुरुषों के दृष्टि-कोण से ऐसे नास्तिक विशेष दयनीय हैं क्योंकि वे बिचारे बहुत ही नासमझ हैं। उनकी इस नासमझी पर किसी भी विवेकी पुरुष को आश्चर्य न करना चाहिये। यह समझ लेना चाहिये कि सभी आस्तिकों की किसी दिन ऐसी ही अवस्था थी। जिस प्रकार एक बूढ़ा, अबोधबालक की नासमझियों पर यह समझ कर आश्चर्य नहीं करता कि कभी सभी बूढ़े इसी प्रकार बालक अवस्था में नासमझ थे। एक दिन वह आयेगा जब कि परिस्थिति ऐसे दुराग्रही नास्तिकों को भी आस्तिक बना देगी तथा वे भी कृतार्थ हो जायेंगे। मैं उन दुराग्रहीनास्तिकों को छोड़ कर अन्य समस्तजिज्ञासु नास्तिकों से भगवान् के अस्तित्व के विषय में कुछ निवेदन कर रहा हूँ, निष्पक्ष हो कर समझने का प्रयत्न करें। नास्तिक कहता है "ईश्वर नहीं है,, मैं कहता हूँ "ईश्वर है,, किन्तु सर्वप्रथम दोनों ही एक दूसरे के सिद्धान्त पर स्वतंत्र रूप से विचार करें। तात्पर्य यह कि नास्तिक के कथनानुसार यदि भगवान् नहीं भी हैं और हम भगवान् को मानते हैं तो हमारी कोई हानि नहीं होती, वरन् लौकिक लाभ भी होता ही है। आप पूछें 'वह कैसे'? वह इस प्रकार कि 'संसार में दुष्कर्मों से बचने के दो ही

उपाय हैं, 'एक तो यह कि हमारी आत्मशक्ति (Will Power) इतनी उच्च हो कि हम स्वाभाविक रूप से ही दुष्कर्मों में प्रवृत्त न हों। ऐसे लोग विश्व में इने गिने ही होते हैं। दूसरा उपाय यह है कि हम किसी भय से कुछ न कुछ मात्रा में दुष्कर्म से बचे रहें। एक मोटी बात यह है कि आज वर्तमान संसार में यदि शासन का भय न हो तो क्या क्या दुष्कर्मों की पराकाष्ठा हो सकती है, यह आप सोच सकते हैं। अतएव जिस प्रकार एक राज-कर्मचारी अपने आफिसर के समक्ष शासन के भय से घूंस आदि नहीं लेता है, किन्तु अन्यत्र शासन के अभाव में घूंस लेता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार यदि हम सर्वद्रष्टा, सर्वनियंता, सर्व साक्षी, एवं सर्व शक्तिमान् भगवान् का सर्वदा सर्वत्र अस्तित्व माने रहें तो विशेष मात्रा में दुष्कर्मों से बचे रहेंगे। यह तो हुआ भगवान् के न होने पर भी उनको मानने वालों के विषय में बात। अब यह विचार करना है कि यदि आस्तिकों के मतानुसार भगवान् वास्तव में ही हुआ तब तो नास्तिक महोदय के लिये वे ही सब शास्त्रों, वेदों, के विधान लागू हो जाँयगे, जिसके परिणाम स्वरूप विधान के अनुसार कूकर, शूकर, कीट, पतंगादि, योनियों में भटकना, तथा नरकादि यातनाओं का भोगना, आदि ही पल्ले पड़ेगा। अतएव भगवान् को मानने में उपरोक्त युक्तिवाद से भी कोई हानि नहीं, प्रत्युत लाभ ही है। जब कि नास्तिक के लिये ईश्वर के न मानने में महान् हानि है। किसी विचार शील व्यक्ति ने कहा है:—

"नास्ति चेन्नः किमायातमस्ति चेन्नास्तिको हतः,,

किसी भी वस्तु के अस्तित्व में प्रायः तीन प्रमाण ही काम में लाये जाते हैं (१) प्रत्यक्ष प्रमाण (२) अनुमान प्रमाण (३) शब्द प्रमाण। मैं इन्हीं तीनों प्रमाणों को लेकर समझाने का प्रयत्न करूँगा, नास्तिक महोदय ध्यान देकर सुनें।

प्रत्यक्ष प्रमाणः—अत्यंत संकुचित प्रमाण है, अर्थात् इस प्रमाण से भौतिक विषयों की ही सिद्धि नहीं हो पाती, इस प्रमाण से बहुत कम काम चलता है। नास्तिक महोदय ! यदि हम तुमसे पूछें कि भगवान् के न होने में क्या प्रमाण है? तुम अपने ही पक्ष को सिद्ध करो। तुम कहोगे "क्योंकि भगवान् प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देता, अतएव हम कहते हैं भगवान् नहीं हैं।" मैं तुमसे फिर पूछता हूँ कि तुमने इङ्गलैन्ड, अमेरिका आदि अनेक देशों एवं संसार के अनेकानेक पदार्थों को नहीं देखा है, फिर तुम उन्हें कैसे मानते हो। वह भी तो नहीं दिखाई पड़ता? तुम कहोगे कि वह तो भूगोल इतिहास के द्वारा सिद्ध है। तथा जो लोग वहाँ जा चुके हैं वे भी प्रमाण हैं। यदि हम फिर यह कुतर्क करें कि तुम्हारे भूगोल इतिहास की सत्यता एवं उन देशों को देख कर लौटे हुए व्यक्तियों की सत्यता में क्या प्रमाण है? तब तुम्हारी गाड़ी रुक जायगी, अर्थात् तुम कहोगे कि यदि इङ्गलैन्ड आदि देशों के अस्तित्व में तुम्हें विश्वास नहीं है तो मेरे कथनानुसार अमुक मार्ग से जाकर देख आवो [illegible]

अब तुम ठीक रास्ते पर आ गये, यही तो आस्तिक भी कहता है कि तुम भी महापुरुषों एवं शास्त्रों पर विश्वास करते हुए उन्हीं के बताये मार्ग के अनुसार चल कर देखो, यदि भगवान् न मिलें तब कहना भगवान् नहीं हैं। जब अल्पज्ञों की बनाई हुई भूगोल इतिहास की पुस्तकों की उक्ति को तुम सत्य मान लेते हो तब सर्वज्ञ महापुरुषों की बनाई हुई शास्त्र, वेद की पुस्तकों में कुतर्क करने का तुम्हें क्या अधिकार है? हाँ! यदि साधना करने पर सिद्धि न प्राप्त हो, तब कह सकते हो कि भगवान् नहीं हैं। तुम्हारे नास्तिक संप्रदाय के अनंतानंत जीव भगवान् को मानते चले आये हैं हिरण्यकशिपु, रावण, सरीखे महान् शक्ति शाली नास्तिकों को भी हार खानी पड़ी, अब तुम व्यर्थ का दुराग्रह कर रहे हो। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष प्रमाण का वास्तविक अर्थ यह है कि जिस प्रकार की साधना करने से जिस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता हो उसी प्रकार की साधना करने पर यदि वह विषय प्रत्यक्ष न हो सके तभी यह कहना उचित है कि अमुक विषय असिद्ध है। जैसे आँख से शब्द का, कान से रूप का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता इसी प्रकार भौतिक साधनाओं से आध्यात्मिक तत्व का भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। तुम्हारे सामने एक पुस्तक रख कर कोई पूछे 'यह क्या है?, तुम कहोगे "यह पुस्तक है,, फिर पुस्तक हटा कर पूछे "अब क्या है?" तुम कहोगे "अब पुस्तक नहीं है।" इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय से ही पुस्तक का अस्तित्व एव अभाव सिद्ध हुआ। अतएव भगवान् भी जिन आध्यात्मिक साधनों

से प्रत्यक्ष होता है, उन्हीं साधनों से प्रत्यक्ष न होने पर वह असिद्ध भी हो सकता है। जब तुमने तदनुकूल कोई साधना ही नहीं की तब तुम्हें "भगवान् नहीं हैं,, यह कहने का अधिकार ही क्या है? यदि प्रत्यक्ष प्रमाण का यह अर्थ किया जाय कि जो कुछ वर्तमान काल में दिखायी पड़ता हो वही प्रत्यक्ष प्रमाण है तब तो सारा संसार ही असिद्ध हो जायगा। इसके अतिरिक्त स्थूल जगत् में भी देखिये, कितने ही तत्व ऐसे हैं जो कि किसी यंत्र विशेष साधना की अपेक्षा रखते हैं—अर्थात् खुर्दबीन आदि से ही दिखाई पड़ते हैं।

ज्ञान, इच्छा, प्रेम, सुख, दुःख, मन, बुद्धि, काल, परिमाण, परमाणु, गुरुत्व आदि कितने ही तत्वों को तुम प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नही कर सकते, अर्थात् इन्द्रियों से इन सब का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। फिर आध्यात्मिक सर्वोच्च तत्व भगवान् का ही प्रत्यक्ष, इन्द्रियों से किस प्रकार हो सकता है। अधिक क्या कहें 'जिन तुम्हारी इन्द्रियों से संसार के स्थूलतत्वों का प्रत्यक्ष होता है, उन्हीं इन्द्रियों से अपनी अणुरूपी इन्द्रिय शक्ति का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

हम तुम्हें एक प्रत्यक्ष प्रमाण देते है, जिसका अनुभव तुम्हें प्रति क्षण स्वाभाविक रूप से ही होता रहता है। तुम भूत, भविष्य, एवं वर्तमान तीनों ही कालों में तथा जाग्रत, स्वप्न, आदि अवस्थाओं में, एवं स्थूल, सूक्ष्म कारण तीनों ही शरीरों में, यह अनभव करते हो कि "मैं हूँ,,। कोई भी व्यक्ति अपना अभाव

स्वीकार नहीं कर सकता। यदि "मैं हूँ", ऐसा ज्ञान न रहे तो उसे संसार का ज्ञान भी नहीं हो सकता, अतएव अपना अस्तित्व ही भगवान् का अस्तित्व सिद्ध करता है।

अनुमान प्रमाण :—अनुमान प्रमाण से अधिक तत्व सिद्ध होता है एव भगवान् को कई शास्त्रकारों ने इसी प्रमाण से सिद्ध किया है। अब आइये, इस प्रमाण से विचार करें। पातञ्जलि शास्त्रानुयायी कहते हैं कि संसार में देखा जाता है कि एक से एक अधिक ज्ञानवान् हैं, इसकी कहीं चरम सीमा अवश्य होगी, इस प्रकार जो समस्त विषयों का सम्पूर्ण ज्ञान युक्त कोई होगा वही भगवान् है। इसी प्रकार परिमाण आदि में भी देखा जाता है कि राई से बड़ा चना, चना से बड़ा बेल, बेल से बड़ा कटहल, कटहल से बड़ा पर्वत, पर्वत से बड़ी पृथ्वी, एवं पृथ्वी से बड़ा आकाश, एक दूसरे से बड़े होते हुए एक असीम सीमा पर पहुँच जाते हैं।

वैशेषिक मतानुयायी कहते हैं कि कर्ता के बिना कार्य नहीं हो सकता, जैसे घट (घड़ा) आदि कार्य का कर्ता कुम्भकार (कुम्हार) अवश्य होता है, उसी प्रकार मनुष्यों से भी अशक्य पृथ्वी अंकुर आदि सावयव (आकार से युक्त) कार्य का भी कर्ता कोई न कोई सर्वशक्तिमान् भगवान् अवश्य है। यह भी विचारणीय है कि सृष्टि को नास्तिक महोदय कहते हैं कि नेचर (Nature) से अपने आप बन गई है। मैं पूछता हूँ कि जिस किसी भी कार्य के बनने में जिन जिन वस्तुओं की अपेक्षा होती है, वे सब नेचर (Nature)

में कहाँ हैं? जैसे सर्व प्रथम कर्ता, तथा कर्ता को कार्य विषयक ज्ञान, एवं ज्ञानयुक्त इच्छा, तथा इच्छायुक्त संकल्प, एवं संकल्प युक्त चेष्टा, तथा चेष्टायुक्त कार्य, सम्पादित होता है।

ज्ञानजन्या भवेदिच्छा हीच्छाजन्या भवेत्कृतिः।

कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या क्रियोच्यते ॥

अब सोचना यह है कि उस नेचर (Nature) में ज्ञान, इच्छा, संकल्प, चेष्टा, आदि कहाँ हैं? यदि कोई कहे कि उस नेचर (प्रकृति) में यह सब वस्तुएं हैं तो बस हम मान लेते हैं कि तुम्हारा नेचर (Nature) हमारे भगवान् का ही पर्यायवाची एक नया शब्द है, किन्तु यदि नेचर (Nature) में उपरोक्त गुण नहीं हैं तो यह कदापि संभव नहीं कि नेचर (Nature) ही सृष्टि का कर्ता हैं। शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक एवं तीन द्व्यणुक से त्र्यणुक तथा चार त्र्यणुक से चतुरणुक बनता है, इस प्रकार महावायु की सृष्टि होती है, फिर तेज, फिर जल, तथा फिर पृथ्वी आदि का निर्माण होता है। अब यह सोचिये कि नेचर (Nature) में यह ज्ञान युक्त प्रयत्न कैसे होगा? तथा नियमित रूप से परमाणुओं का परिगणन (गिनती) आदि कैसे होगा? अतएव सृष्टि का कर्ता कोई समर्थ ज्ञानेच्छा प्रयत्नवान् भगवान् अवश्य हैं।

'यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व,, (तैत्तिरीयोपनिषत् ६-१)

नैयायिक कहते हैं। :—

ईश्वरः कारणं कर्माफल्यदर्शनात्, (न्यायसूत्र ४-१-१६)

उनका कहना है कि जीव महान् पुरुषार्थ करता हुआ भी असफल या कम सफल पाया जाता है, तथा साधारण पुरुषार्थ से ही महान् सफल देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि फल कर्म के आधीन है। कर्म स्वयं जड़ है वह अपने आप उचित देश, काल एवं पात्रानुसार नियमित रूप से फल प्रदान नहीं कर सकता अतएव समस्त विश्व के समस्त जीवों को नियमित रूप से कर्म फल प्रदान करने वाला कोई न कोई सर्वशक्तिमान् भगवान् अवश्य है। सांख्य कहता है :—

"ईश्वरासिद्धेः मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः,
उभयथाप्यसत्करत्वं मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा,,।

अर्थात् ईश्वर नाम की पृथक् वस्तु नहीं है। अणिमा आदि-सिद्धियों से युक्त महान् ऐश्वर्यशाली कपिल ही ईश्वर है। सृष्टि को धारण करने वाला भी कोई न कोई समर्थ भगवान् अवश्य है। जिस प्रकार एक पक्षी आकाश में अपनी चोंच से एक लकड़ी पकड़ कर उड़ता है, किन्तु यदि वह लकड़ी छोड़ दे, तब वह निराधार अपने आप नहीं ठहर सकती, उसी प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों से युक्त यह सृष्टि भी बिना किसी समर्थ के धारण किये स्थिर नहीं रह सकती।

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः

(श्रुति)

जिस प्रकार घड़े आदि का विनाश किसी के प्रयत्न से ही होता है उसी प्रकार नियमित रीति से उचित समय पर विश्व का प्रलय भी बिना किसी प्रयत्नवान् भगवान् के प्रयत्न के नहीं हो सकता। एक ही नेचर से उपरोक्त तीनों ही विरोधी कार्य निर्माण, धारण, एवं प्रलय नहीं हो सकते।

घट (घड़ा) पट (वस्त्र) आदि का आदर्श निर्माता सृष्टि के पूर्व में कोई न कोई अवश्य होगा। अन्यथा आदर्शस्थापन के बिना व्यावहारिक ज्ञान कैसे होता ? वह आदर्शस्थापक आदि-समर्थ-पुरुष भगवान् ही हैं। स्वयं भगवान् ने ही कुम्हार आदि बन कर सब को घड़ा आदि बनाना बताया होगा अतएव वेद में :—

"नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च"

इसके अतिरिक्त :—

"वेदाःसर्वज्ञप्रणीता वेदत्वात्"

अर्थात् वेद वेद होने के कारण ईश्वर रचित है। एवं :—

"वेद वाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवत्"

ईश्वर ही वेद के अर्थ को भी प्रकट करता है, वही ज्ञाता भी है।

संज्ञावाची उत्तमपुरुष के लिये एकत्व आदि संख्या वक्ता में ही आरोपित होती है, अतएव श्रुति कहती है :—"एकोऽहंबहुस्याम्,,

वेदों के पढ़ने वाले अनन्त हुये है। यदि पढ़ने वालों के नाम से ही काठक, कालापक, आदि नाम पड़े होते तब तो अनन्त नाम हो जाते, किंतु ऐसा नहीं है। अतएव भगवान् ही कठ संज्ञक कलाप संज्ञक शरीर धारण करके वेदों का पढ़ने वाला बना।

यदि नेचर से ही सृष्टि होती तो केशर का बीज काश्मीर ही में क्यों होता, कोयल का स्वर बसंत ऋतु में ही क्यों सुनाई पड़ता, बलाका पक्षी (मोर) मेघ ध्वनि श्रवण से ही गर्भ धारण क्यों करता। इन देश, काल, निमित्त आदि की अपेक्षा नेचर (Nature) को क्यों होती?

आज संसार विज्ञान के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाने पर भी अभी सिर का एक बाल तक नहीं बना सका, किंतु सृष्टि में जिधर भी दृष्टि डालिये अति वैचित्र्य-पूर्ण सामञ्जस्य दिखाई पड़ता है। विविध प्रकार के स्वेदज, अण्डज, उद्भिज, जरायुज, जीव, तथा उनका जलचर, थलचर, खेचर, निवास, एवं उनका विविध प्रकार आहार, बिहार, आदि का उचित प्रबंध, अनंतानंत तारा ग्रहों से युक्त, सूर्य, चन्द्र, आदि का वैचित्र्य कितनी बिलक्षणता पूर्ण बुद्धि कौशल का प्रमाण है। इतनी विशाल सृष्टि में किसी भी दो व्यक्ति की आकृति, स्वर, विचार, आदि मिलता जुलता नहीं दिखाई पड़ता, यहाँ तक कि किसी भी दो वृक्ष के पत्ते, फूल, फल, आदि कुछ भी एक से नहीं दिखाई पड़ते। इन विचित्रताओं को देख कर प्रतीत होता है कि इसका निर्माता अवश्य कोई न कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् है। केनोपनिषद् में आदि शंकराचार्य ने अनुमान-प्रमाण के द्वारा ईश्वर को सिद्ध करते हुये कहा है:—

यदिदं जगद्देव-गंधर्व-यक्ष-रक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचंद्रग्रहनक्षत्रविचित्रं, विविधप्राण्युपभोगयोग्यसाधनसंबंधि

तदत्यंतकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं, देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्ति निवृत्तिक्रमं, एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति कार्यत्वे सतियथाक्तलक्षणत्वात् गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्,, ।

(शांकर भाष्य केनोपनिषत्)

प्रायः संसार के निर्माण के विषय में तीन ही कल्पनायें हो सकती हैं।

(१) जगत् इसी प्रकार से सदैव से बना बनाया चला आ रहा है।

(२) जगत् किसी कर्ता के बिना ही बन गया है।

(३) जगत् को किसी वाह्य शक्ति ने बनाया है।

पहिली कल्पना पर विचार करने से वह असिद्ध हो जाती है, क्योंकि जगत् तो कई मिश्रित तत्वों से बना है, जैसे पानी, हवा, पृथ्वी, आदि। मिश्रित तत्वों से बनी हुई वस्तु नित्य नहीं रह सकती। दूसरी कल्पना भी असिद्ध हो जाती है, क्योंकि संसार बिना कर्ता के नेचर (Nature) से बन ही नहीं सकता। कारण यह है कि प्रकृति (नेचरNature) गति शून्य है। वह स्वयं कर्ता नहीं बन सकती, तथा किसी वस्तु को बना भी नहीं सकती। अब तीसरी कल्पना पर गंभीर विचार करना है। क्योंकि जब दो कल्पनायें असिद्ध हो गयीं तो तीसरी कल्पना अवश्य सिद्ध होगी अन्यथा संसार का अस्तित्व भी असिद्ध हो जायगा। यह सत्य है कि जगत् को किसी कर्ता ने बनाया है। हर्बर्ट स्पेसंर (Her-birt Spensor) ने भी यह स्वीकार किया है कि जगत् को किसी

कर्ता ने ही बनाया है, किन्तु आक्षेप यह है कि यह कल्पना महा-प्रलय को मान कर ही हो सकती है। जर्मनी के जड़ाद्वैत वादी इरनिस्ट हैकल (Irnist Haicol) ने इसी कल्पना पर नास्तिक-वाद सिद्ध किया है जो कि आधुनिक विज्ञान एवं वैदिक सिद्धान्त दोनों ही के विरुद्ध है। आधुनिक विज्ञान में ताप संबंधी सिद्धान्त के प्रवर्तक क्लासियस ने ताप को दो भागों में बांटा है। एक वह जो जगत् में सदा रह कर काम आया करता है। दूसरा जगत् के काम से पृथक् होकर बढ़ता जाता है। दूसरी ताप शक्ति जो बाहर से भीतर जाया करती है वह शक्ति पूर्व में ताप के रूप में ठंडे पिण्डों में विभक्त हुई थी। वहाँ से कम होते होते जहाँ तक भावी कार्यों का संबंध है उसे नष्टप्राय समझना चाहिये। यह दूसरा ताप पहिले को कम करता रहता है, तथा स्वयं बढ़ता रहता है इस प्रकार पहिली ताप शक्ति कम होती जाती है, जब सर्वथा कम हो जायगी तब शीतोष्ण का भेद दूर हो जायगा, एवं प्रकृति (नेचर-Nature) गतिशून्य हो जायगी, वही प्रलय है। अब नास्तिकों से यह बतावो इस गति शून्य प्रकृति (नेचर Nature) में पुनः गति कहाँ से उत्पन्न होगी, जिसके बिना पुनः सृष्टि कैसे होगी, तब वे नास्तिक चुप हो जाते हैं। भगवती श्रुति (वेद) कहती है उस प्रलय के बाद ईश्वर गति प्रदान करता है किंतु स्वयं उसमें नहीं आता। श्रुति :—

"तदेजति तन्नैजति,,

विज्ञान वेत्ता नास्तिक कुछ सोच कर एक दलील देता है कि

प्रकृति (नेचर Nature) तो कुछ न कर सकेगी, किन्तु प्रकृति की शक्ति काम करेगी। पर विचारणीय यह है कि शक्ति तो गुण है वह गुणी के बिना कैसे रह सकती है, अतएव महाप्रलय के पश्चात् ईश्वर प्रेरणा से ही प्रकृति में गति जागृत होती है। प्रकृति में गति प्रदान करने की शक्ति, शक्तिमान् भगवान् में ही है। अरस्तू ने कहा है कि ईश्वर बिना हिले डुले ही गति प्रदान कर देता है।

आत्मा के नित्य अस्तित्व में पाश्चात्य विद्वान् सर विलियम क्रुक (Sir William crook) सर ओलिवर लाज (Sir oliver Lodge) सर को आयनन, रिव्यू आफ रव्यू(Review of Review) तथा वार्डरलैन्ड के सम्पादक मिस्टर स्टेड आदि को भी प्रत्यक्ष हो चुका है कि मृत्यु के पश्चात् भी जीवात्मायें रहती हैं। उनसे बातचीत भी हो सकती है। प्रोफेसर मायर (Mayer) भी कहता है कि मृत व्यक्ति से निश्चित ही बात चीत हो सकती है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न देशों में समय समय पर ऐसे बालक देखे जाते हैं जो अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त बताते हैं, एवं आधुनिक दूरदर्शी लोग वहाँ जाकर देखते भी हैं तथा स्वीकार करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व सदा ही सत्य है। इस प्रकार आत्मा का त्रिकाल में, तीनों अवस्थाओं में, सत्य होना ही भगवान् के अस्तित्व का ज्वलंत प्रमाण है।

असंख्यों ब्रह्माण्डों में प्रत्येक ब्रह्माण्ड, प्रत्येक ब्रह्माण्डमें प्रत्येक लोक, प्रत्येक लोक में प्रत्येक देश, प्रत्येक देश में प्रत्येक प्रांत, प्रत्येक प्रांत में प्रत्येक ग्राम, प्रत्येक ग्राम में प्रत्येक सरोवर में रहने वाले प्रत्येक जीव के प्रत्येक क्षण के प्रत्येक संकल्पों तक को जानने वाला सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् भगवान् के सिवाय अन्य कोई नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृति (Nature) ज्ञान हीन है, तथा जीव भी अल्पज्ञ है।

किञ्चित् विचार कीजिये कि कितनी विशाल सृष्टि है। आज का भौतिक विज्ञान भी जितना पता लगा चुका है उसके अनुसार प्रोफेसर एडिन्टन कहता है कि अब तक हमने तीन सौ करोड़ तारा सूर्यों का पता लगाया है उसका कहना है कि सूर्य पृथ्वी से नौ करोड़ मील दूर है। आलोक रश्मि (लाइट) की गति प्रति सेकन्ड एक लाख छियासी हजार मील होते हुए भी ऐसे ऐसे तारा सूर्य हैं जिनकी आलोक रश्मि पृथ्वी तक आने में चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं। अब गणित लगाइये कि कितनी दूरी पर तथा कितने लोक होंगे जब कि अभी विज्ञान अत्यंत सीमित है। उसे तो अभी आंशिक बोध भी नहीं है। अनुमान प्रमाण से मैंने उपरोक्त रीति से भगवान् को सिद्ध किया। इस विषय में विस्तार करना ठीक नहीं। यदि किसी को विस्तार पूर्वक समझना हो तो उदयनाचार्य की "कुसुमाञ्जलि,, उत्पलदेव की "सिद्धित्रयी" अभिनव गुप्ताचार्य की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी,, यामुनाचार्य की सिद्धित्रयी,, लोकाचार्य की "तत्वत्रय,, नामक पुस्तकों को पढ़ कर

समझ सकते हैं। यह अनुमान प्रमाण हुआ। वस्तुतस्तु अनुमान प्रमाण भी भगवान् के अस्तित्व की सिद्धि में पूर्णतया समर्थ नहीं है। क्योंकि अनुमान प्रमाण तो तब सफल हो सकता है जब दो पदार्थों में परस्पर नियत संबंध पूर्व में ज्ञात हो उनमें एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान हो सकता है। उदाहरणार्थ :—

धुएं एवं अग्नि का संबंध पूर्व में ज्ञात है अतएव "पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्" अर्थात् इस पर्वत में आग लगी है क्योंकि दूर से धुआं दिखाई पड़ता है। किंतु सृष्टि रूपी कार्य का ईश्वररूपी कारण संबंध पूर्व में ज्ञात नहीं है। अतएव सृष्टि के द्वारा ईश्वर का अनुमान पूर्णतया सिद्ध नहीं हो सकता।

"अनुमानं ज्ञातसंबंधयोरेकज्ञानेनान्यस्य ज्ञानम्"

अतएव जब तक शब्द प्रमाण और भी हैं तब चिन्ता ही क्या है। शब्द प्रमाण से ईश्वर सिद्धि सर्वथा सिद्ध हो ही जायगी।

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते
यत्तं विदंति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता" ।

अर्थात् जिन तत्वों की सिद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता उनकी सिद्धि शब्द प्रमाण द्वारा होती है।
भगवती श्रुति कहती है :—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" अर्थात् उस भगवान् को वेद के बिना किसी भी प्रकार से नहीं जाना जा सकता। वेदान्त कहता है "शास्त्र योनित्वात्" अर्थात् शास्त्रों द्वारा ही भगवान् का परिज्ञान होता है। भगवद्गीता कहती है :—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन :,, ।

अर्थात् अनुभवी महापुरुषों के शरणागत हो कर जिज्ञासु भाव से सेवा करते हुए प्रश्न करने पर भगवद्विषय का ज्ञान हो सकता है। यह भी विचारणीय है कि जब भगवान्

"नायमात्मा प्रवचनेन ग्राह्यः नैषा तर्केण मतिरापनेया।"

ऐसी श्रुति की उक्ति के अनुसार वाणी अथवा तर्क आदि का विषय नहीं है, तब उसे अनुमानादि प्रमाणों से क्यों नापा जाय। जो वस्तु ज्ञान का विषय होगी वही सीमित ही होगी, असीम नहीं हो सकती, वह ज्ञेय पदार्थ सब का प्रकाशक न होगा। जिसका प्रकाश बुद्धि स्वयं करेगी, वह बुद्धि का प्रकाशक कैसे होगा। अतएव वह ज्ञेय प्रमेय आदि नहीं हो सकता, ईश्वर तो स्वयम् ज्ञाता है।

"विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ,, (उपनिषत्)

अर्थात् जानने वाले को किस साधन से जाना जा सकता है। गीता भी कहती है

"मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तु सः,, ।

अर्थात् जो बुद्धि से परे होता है वही ईश्वर है। रामायण भी कहती है :—

राम स्वरूप तुम्हार बचनअगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम वद ॥

अर्थ स्पष्ट ही है

माण्डूक्योपनिषद् कहता है :—

"अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्,, ।

अर्थात् नेत्रों से अदृश्य, इन्द्रियातीत लक्षण या शब्द जाल से अग्राह्य विचार से अतर्क्य आत्मानुभव रूप से ही ज्ञेय प्रपंच रहित शांत कल्याण स्वरूप एक ईश्वर है। श्रुति यहाँ तक कहती है कि जो लोग तर्कादि से ईश्वर को नापते हैं वे अत्यन्त ही मूर्ख हैं।

"अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः दंद्रम्यमाणाः परियंति मूढा अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः,,

अर्थात् वे अज्ञान के क्षेत्र में ही विचरने वाले मूर्ख अपनी तुच्छ मायिकबुद्धि में ही उन्मत्त अपने आप को बुद्धिमान समझते हुये अपने आप को ठग रहे हैं, जैसे अंधे के द्वारा अंधा चलता है। सारांश यह कि भगवान् बुद्धि ग्राह्य नहीं हैं, तर्क ग्राह्य नहीं है, भागवत में ब्रह्मा जी नारद जी से कहते हैं :—

"नाहं न यूयं यद्दतां गतिं विदु—
नवामदेवः किमुतापरे सुराः।
तन्मायया मोहित-बुद्धयस्त्विदं
विनिर्मितं चात्मसमं प्रचक्ष्महे,, ।

अर्थात् उस ईश्वर की गति को न हम जानते हैं न तुम जानते हो न शंकर ही जानते हैं। और देवताओं की गिनती ही क्या है। उस ईश्वर की माया से मोहित बुद्धि वाले हम सब अपनी ही सीमित बुद्धि से अनेक रूप का बताते हैं।

जब महान् से महान् बुद्धिमान् ब्रह्मा शंकरादिक उसे नहीं जान सकतें तब बेचारे हम सब उसे तर्कादि से कैसे नाप सकते हैं हमें आप्त वाणी के ही आधार पर चलना होगा। एवं आप्त वाणी पर ही पूर्ण विश्वास करना होगा। जिस किसी भूरिभाग्यशाली को महापुरुष के द्वारा आप्त वाक्य पर विश्वास हो जाय एवं तदनुसार साधना करने पर ईश्वरकृपापात्र हों जाय तभी उसे ईश्वर का ज्ञान हो सकता है। प्राचीन इतिहास के सनकादिकों से लेकर आधुनिक इतिहास के तुलसी, सूर, मीरा कबीर, नानक, तुकाराम जयदेव, आदि अनंतानंत ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति के ज्वलंत प्रतीक हैं। अतएव हमें ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करना ही चाहिए किंतु यह विश्वास तभी होता है जब जीव :—

(जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिदुःख-दोषानुदर्शनम्) के अनुसार संसार के के प्रत्येक विषयों में दुःख है यह भलीभाँति समझ ले, एवं संसार का क्षेत्र ब्रह्म लोक पर्यन्त है, अतएव ब्रह्मलोक पर्यन्त के सभी सुख क्षणभंगुर हैं, ऐसा निश्चय कर ले। गीता :—"आब्रह्मभुवना ल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन" अर्थात् श्री कृष्ण भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ब्रह्म लोक तक जा कर फिर लौटना पड़ेगा। इस प्रकार जो जीव तत्वज्ञानपूर्वक बारबार विचार करता हुआ संसार से पराङ्मुख हो जाता है वही ईश्वर के जानने की जिज्ञासा करता है। तत्पश्चात् यदि संस्कारादि वशात् उसे महापुरुष प्राप्त हो जाता है तभी वह ईश्वर को जान सकता है। तभी उससे साधना भी बन सकती है। जब तक ऐसा बनाव न बनेगा तब तक किसी

भी प्रकार किसी को भी कोई आस्तिक नहीं बना सकता। यदि उपरोक्त बनाव के बिना ही हठात् किसी को आस्तिक बनाना चाहे तो उससे साधना नहीं हो सकती।

मनु महाराज कहते हैं :—

"सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत्,,

अर्थात् हठात् कोई भी साधना सिद्ध नहीं हो सकती। जीव की यह अनादि काल की उलझी हुई समस्या तभी सुलझ सकती है जब उपरोक्त सभी बनाव बनें। मुझे इस विषय में तुलसीदास की यह उक्ति बार बार याद आती है :—

जो यहि भाँति बनै संयोगा। तथा :—

सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा, संयम यह न विषय की आसा।
रघुपति भक्ति सजीवन मूरी अनूपान श्रद्धा अति रूरी।
येहि विधि भलेहि कुरोग नसाहीं, नाहिं तो कोटि यत्न नहिं जाहीं

मौलाना रूमी कहता है कि तितली के समान क्षणभंगुर जीवन एवं बुद्धि वाला मनुष्य समस्त भगवद्विषय रूपी ऋतुओं के सामञ्जस्य को कैसे समझ सकता है। पाश्चात्य विद्वान एफ० एच० जेकबी (F.H. Jacobri) कहता है कि जो समझ में आ जाय वह परमात्मा हो ही नही सकता :—God whom we can understand would be no God.

I stretch lame hands of faith and grope,
And gather dust and chaff and call,

To what I feel is Lord of all,

And faintly trust the larger hope.

अर्थात् मैं श्रद्धा के लूले हाथों को फैलाकर इधरउधर टटोलता और धूल एवं भूसा इकट्ठा करके उस परमात्मा को पुकारता हूँ। मैं समझता हूँ कि वह सब का प्रभु है और इस प्रकार उस महत्तर आशा में विश्वास करता हूँ, चाहे वह विश्वास दृढ़ न हो।

बाइबिल ने भी कहा है:—

We walk by faith, not by sight.

अर्थात् हम श्रद्धा के सहारे चलते हैं नेत्रों के नहीं।

ईसामसीह के शब्दों में वे ही लोग धन्य हैं जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, क्योंकि ऐसे पुरुष ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकते हैं।

Blessed are the pure in heart, for they shall see God.

(Proffessor. Knight)

इस सम्बन्ध में हमें आन्तरिक ज्ञान का विशेष गुण बतलाते हैं उनका कहना है कि आन्तरिक ज्ञान स्वतः प्रकाश नहीं होता किन्तु उसे उस अलौकिक वस्तु से प्रकाश प्राप्त होता हैं जिसको वह अपना विषय बनाता है।

महाकवि टेनीसन के निम्नलिखित पद्य का यही आशय है—

By faith and faith alone embrace,

Believing where we cannot prove.

अर्थात् हमें श्रद्धा का ही आश्रय लेना उचित है, क्यों कि जिस विषय को हम तर्क के द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, वहाँ विश्वास के सिवा कोई गति नहीं है।

ईसाइयों के 'Imitation of Jesus Christ' नामक ग्रन्थ में लिखा है—

The soul is not to be satisfied with the multitude of words, but a holy life is continual feast. The kingdom of God is not in words.

अर्थात शब्दों की प्रचुरता से आत्मा का सन्तोष नहीं होता पवित्र जीवन से निरन्तर सुख का रसास्वाद मिलता है। ईश्वर के राज्य में शब्दों का महत्व नहीं है।

(नास्तिक महोदय के आस्तिक बन जाने पर)

॥ अब हम आस्तिकों से बात करेंगे ॥

अर्थात् जिसने किसी भी प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को हृदय से स्वीकार कर लिया है उसे अब आगे क्या समझना है इस पर विचार विमर्श करेंगे। सर्व प्रथम यह समझना होगा कि ईश्वर कहते किसे हैं? फिर यह समझना होगा कि ईश्वर का स्वरूप क्या है? फिर यह समझना होगा कि ईश्वर की प्राप्ति कैसे होगी?

"ईशितुंशीलमस्येति ईश्वरः,, अथवा 'ईष्टे,इति ईश्वरः,

अर्थात् सर्व लोकनियामक सर्वैश्वर्यशाली आदि अघटित घटना पटीयसी योग माया के अनन्त गुणों से युक्त कर्तुम कर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ एक ईश्वर है जिसे अनेक महापुरुषों ने अनेक

प्रकार के शब्दों में बताया है। वह सर्वव्यापक है, सर्वनियामक है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वद्रष्टा है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वसाक्षी है, सर्व सुहृद् है एवं भक्त कल्पतरु, अकारण-करुण भी है :—

भागवत की यह उक्ति कितनी सुन्दर है

"यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं चइदं स्वयम् ।
योऽस्माच्च परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयंभुवम्" ॥

अर्थात् जिसमें समस्त विश्व रहता है,जिससे समस्त विश्व उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा समस्त विश्व का संरक्षण होता है, तथा जो स्वयम् विश्व स्वरूप है , एवं जो इस विश्व और असंख्य सूक्ष्म विश्वों से भी परे है। ऐसे स्वयम् उत्पन्न ईश्वर की शरण हूँ। भगवान् का स्वरूप अति विचित्र है। वेद कहता है:—

"अणोरणीयान् महतो महीयान्"

अर्थात् छोटे पन की पराकाष्ठा स्वरूप अणु से भी छोटा है। एवं महानता की पराकाष्ठा महान् से महान् है। किन्तु इतना कह कर भी वेद चुप नहीं होता, वह फिर कहता है।

"नेति नेत्यस्थूलमनणुः"

अर्थात् मैंने जो अभी ऊपर बताया वह भी ठीक नहीं है। वह स्थूल भी नहीं है तथा सूक्ष्म भी नहीं है। सारांश यह कि वह महान् से महान् है, छोटे से छोटा है, एवं महान् भी नहीं है छोटा भी नहीं है। अर्थात् वह सब कुछ है, और कुछ भी नहीं है। भावार्थ यह कि वह क्या है? यह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। उसका स्वरूप परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त है। यजुर्वेद कहता है:—

"अजायमानो बहुधा विजायते,,

अर्थात् वह अजन्मा भी है एवं अनंत रूप से जन्म भी लेता है। श्वेताश्वतरोपनिषत् कहता है: —

"अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षु: सशृणोत्यकर्णः

सर्वेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्,, ।

अर्थात् वह बिना हाथ पैर का है परन्तु दौड़ता है, वह बिना आँख का है परन्तु देखता है, वह बिना कान का है परन्तु सुनता है, वह सबकुछ जानता है किन्तु उसे कोई नहीं जानता ऐसा वह विराट् पुरुष है।

यजुर्वेद कहता है:—

"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू··········· ।" (यजुर्वेद अ० ४० मं ८)

पूर्व मंत्र में दौड़ना कहा गया है जो शरीर के बिना संभव नहीं। इस मंत्र में व्रण रहित, स्नायु रहित कहा गया है जो शरीर के बिना संभव नहीं। सारांश यह कि यद्यपि उसके अनंतानंत स्वरूप हैं किन्तु उन समस्त स्वरूपों को उपासना की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर दिया है।

आदि शंकराचार्य कहते हैं

"जानंतु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः

मूर्तं चैवामूर्तंद्वे एवं ब्रह्मणो रूपे" (प्र० सु०)

अर्थात् निराकार भगवान् एव साकार भगवान् ये दोनों ही उनके स्वस्वरूप हैं। यह स्मरण रहे कि आदि शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र

के भाष्य कार हैं जिसमें उन्होंने ब्रह्म को निराकार ही सिद्ध किया है किन्तु उनका अंतरंग आकर्षण प्रमुख रूप से सगुण साकार भगवान् की ही ओर था। यह हम आगे चल कर स्पष्ट करेंगे। अब थोड़ा निराकार एवं साकार भगवान् के भी विषय में कुछ विचार हो जाना चाहिए। क्योंकि इस विषय में वाचिक पंडितो को बड़ा भ्रम रहता है।

कुछ लोग कहते हैं कि निराकार ब्रह्म साकार हो ही नहीं सकता। यद्यपि मैंने उपरोक्त वैदिक प्रमाणों से बताया है कि भगवान् तो सर्वसमर्थ है उसे साकार होना क्या कठिन हो सकता है, तथापि अल्पज्ञ सर्वसमर्थ में इतनी भी सामर्थ्य नहीं समझते कि ईश्वर अनंतकोटि ब्रह्माण्डों को तो इच्छा मात्र से साकार बना सकता है किन्तु स्वयं साकार बनने में असमर्थ है। ब्रह्म को बिना साकार माने अधोनिर्दिष्ट प्रश्नों का समाधान किस प्रकार हो सकता है। विचार कीजिये।

कतिपय अद्वैत वादियों ने माना है कि ब्रह्म 'ज्ञानादि गुणों से रहित है' ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी वस्तु मिथ्या अर्थात् भ्रम प्रतीति मानी है। हम पूछते हैं कि ब्रह्म से अतिरिक्त उस मिथ्या वस्तु का द्रष्टा कौन होगा? जीव ईश्वर तो अविद्या की कल्पना के अनन्तर उत्पत्ति वाले हो गये जिससे अविद्यास्वरूप द्वैत के द्रष्टा हो नहीं सकते। अतएव मिथ्या प्रपंच का द्रष्टा कौन होगा? यह उन अद्वैत वादियों के लिये एक जटिलसमस्या खड़ी हो जायगी। अद्वैत वादियों ने माया से विशिष्ट ब्रह्म को सर्वज्ञ माना है, जब कि माया जड़ होने से सर्वज्ञ हो नहीं सकती। एवं ब्रह्म भी

उनके सिद्धान्तानुसार ज्ञानादिगुणों से रहित होने के कारण सर्वज्ञ नहीं हो सकता। जब माया सर्वज्ञ नहीं, ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं, तब माया विशिष्ट ब्रह्म सर्वज्ञ कैसे हो गया? क्या जड़माया में ऐसी कोई विशेषता है कि उसके सम्पर्क से ब्रह्म सर्वज्ञ हो गया जब कि पूर्व में नहीं था? ब्रह्म के साथ माया का संबन्ध कैसे बन सकता है जब कि ब्रह्म निरवयव है। अवयव नाम टुकड़ा का है। अवयव से युक्त पदार्थों का ही संयोगसंबन्ध हुआ करता है। दूसरी बात यह कि समवाय संबन्ध भी नहीं हो सकता। क्योंकि समवाय संबन्ध गुणगुणी, क्रिया क्रियावान्, जाति व्यक्ति, अवयव, अवयवी एवं विशेष नित्य द्रव्य का ही हुआ करता है। माया तो ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। यदि कल्पित संबंध माना जायगा तो यह प्रश्न खड़ा हो जायगा कि माया का कल्पक कौन है? क्योंकि मायाजड़ होने से कल्पना करने में सर्वथा असमर्थ है। ब्रह्म भी ज्ञाता न होने के कारण कल्पना नहीं कर सकता। यदि कहो कि अनादि कल्पित संबंध हैं तो अनादि कल्पक भी होना चाहिये। क्योंकि मिथ्या, कल्पना के बिना रह ही नहीं सकती। यदि बिना कल्पक के माया को माना जायगा तो ब्रह्म की तरह माया भी सत्य हो जायगी। यदि बिना कल्पक के ही माया को कल्पित मान लिया जायगा तो ब्रह्म भी कल्पित हो जायागा। माया तथा जीव अद्वैतवादियों के सिद्धान्तानुसार कल्पित माने गये हैं। ब्रह्म ज्ञाता होने से माया का कल्पक हो ही नहीं सकता। जीव ईश्वर स्वयं कल्पित होने के कारण कल्पक नहीं हो सकते। माया भी स्वयं

अपना कल्पक नहीं हो सकती। क्योंकि आत्माश्रय दोष आजायगा।

ईश्वर यदि माया से कल्पित है तो सादि हो जायगा। ब्रह्म अपने को "मैं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ" ऐसा जानता है कि नहीं? यदि जानता है तो ब्रह्म सगुण हो जायगा। यदि नहीं जानता है तो "ब्रह्म ज्ञानानन्द स्वरूप है" इस बात को कौन जानता है? ब्रह्म के सिवा मिथ्या पदार्थ किसी को जान नहीं सकता क्योंकि लोक में भी रस्सी का मिथ्या सांप किसी पुरुष को लाठी लिये हुये देख कर भागता हुआ नहीं दिखाई पड़ता। आप स्वप्न के दृष्टान्त से भी अपने इष्ट अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने अपनी अचिन्त्य शक्ति से जीव के कर्मानुसार स्वप्न काल तक ही रहने वाले पदार्थों को ही जीवों के भोग के लिये बनाया है। अतएव स्वप्न के पदार्थ सत्य हैं। यदि कहो कि ब्रह्म को ईश्वर तथा ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि वह "ज्ञानानन्द स्वरूप है" तो यह विचारणीय है कि इस बात को ब्रह्म जानता है या उपाधि जानती है? उपाधि जड़ होने से तथा ब्रह्म भी निर्गुण होने से नहीं जान सकता। जब ब्रह्म हीं नहीं जान सकता तब उसका आभास कैसे जान सकेगा। जब तीनों पृथक् पृथक् नहीं जान सकते तो मिल कर ही कैसे जान सकेंगे। अतएव "ब्रह्म ज्ञानानन्द स्वरूप है" यह सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता। अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं हो सकता है क्योंकि जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय करता है। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर को जगत् की प्रतीति नहीं हो सकती क्योंकि मिथ्या जग की प्रतीति

तो अज्ञानी को ही होती है। यदि ऐसा हुआ तो जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय कैसे होगा? साथ ही परमेश्वर को अज्ञानी कहना पड़ेगा। क्योंकि यदि परमेश्वर जगत् को मिथ्या जानता तो उसकी रक्षादि में क्यों प्रवृत्त होता। संसार में कोई भी बुद्धिमान् जब सीप में चाँदी का मिथ्या भ्रम जान लेता है तब उसके लिये प्रवृत्त नहीं होता। अतएव यदि प्रवृत्ति होती है तब तो ब्रह्म अज्ञान स्वरूप हो जायगा। इसी प्रकार यदि ईश्वर प्रवृत्त होगा तो वह भी अज्ञानी हो जायगा। यदि ईश्वर को सर्वज्ञ मानो तो जगत् को सत्य कहना चाहिये। एक बड़ी विचित्र बात यह देखो कि ब्रह्म तो ज्ञान स्वरूप है उससे भूल हो नहीं सकती फिर भी वह भूल कर अपने को जीव कैसे मानने लगा। भूल तो ज्ञाता में हो सकती है जब कि ब्रह्म ज्ञाता नहीं है अद्वैत वादी कहते हैं कि आभास अपने में कूटस्थ का अभिमान करके "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा तथा अपना वाध करके वाधसमानाधिकरण्य रूप करके "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा अनुभव करता है। यदि ऐसा है तो विचारणीय यह हो जाता है कि जब आभास का वाध ही हो गया तो अनुभव कौन करेगा? क्योंकि मिथ्या वस्तु तो बाध समय में रहेगी ही नहीं। कर्तृत्व भोक्तृत्व धर्म तो ब्रह्म की छाया ही में उन्होंने माना है अतएव आभास ही दुखी है। एवं दुखी आभास का नाश ही मोक्ष होगा सुख प्राप्ति रूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं वेदों में अवतारों का वर्णन नहीं है। अतएव ब्रह्म सगुण साकार ब्रह्म नहीं होता। किन्तु वे लोग वेदों

का अंतरङ्ग रहस्य नहीं समझते। देखिये ऋग्वेद—मं०६ अ० ४ सू० ४७ मं १८.

"रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय
इन्द्रो मायाभिःपुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयःशतादश"

अर्थात् इन्द्र (ईश्वर) अपनी अघटित घटना पटीयसी योग-माया से अनेक रूपों वाला हो जाता है वह अपने अंतरङ्ग भक्त वत्सलता आदि गुणों को प्रकट करता हुआ लोक हितार्थ जो रूप चाहता है धारण कर लेता है उस ईश्वर का ऐसा मंगलमय अवतार स्वरूप सैकड़ों होता है तथा प्रधानतया दस होता है।

कुछ लोग कहते हैं ईश्वर व्यापक है एकदेशीय कैसे होगा ? निराकार है साकार कैसे होगा ? इसका उत्तर वेदों के अनुसार हम पूर्व में ही दे चुके हैं। आदि शंकराचार्य जो अद्वैत सिद्धान्त के प्रचंड प्रतिपादक थे, इसका उत्तर देते हुये कहते हैं :—

"यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानंदः"

अर्थात् यदुनाथ पूर्णतम पुरुषोत्तम ब्रह्म श्रीकृष्ण यद्यपि साकार हैं तथा एकदेशीय से भी प्रतीत होते हैं। तथापि वे सर्व व्यापक, सब के अन्तरात्मा-स्वरूप एवं सच्चिदानंद ब्रह्म ही हैं।

जिस प्रकार अग्नि तो सर्व व्यापक है वह एक स्थान पर प्रदीप्त दावानल के रूप में भी हो जाती है तथा सर्वत्र व्यापक भी रहती है। यह प्रत्यक्ष विषय है। तुलसीदास जी कहते हैं:—

एक दारु गत देखिये एकू। पावक युग सम ब्रह्म विबेकू॥

ऐसे ही ईश्वर तो सर्व समर्थ होंगे। उनके लिये साकार होते हुये भी सर्व व्यापक बने रहना क्या कठिन है। किन्तु यह प्रश्न कर्ता के लिए आश्चर्य का विषय तब तक रह सकता है, जब तक भगवत् कृपा से भगवद् तत्व ज्ञान नहीं हो जाता। भागवत में एक बड़ा ही मेरा प्रिय श्लोक —है

"कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम्
कालात्मनी यत्प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह"

अर्थात् इच्छा रहित ईश्वर से कर्म का होना, अजन्मा का जन्म होना, कालात्मा स्वरूप का जरासंध के भय से भाग कर द्वारिका के किले में आश्रय लेना, निज स्वरूप में ही रमण करने वाले का गोपियों के साथ रासादि करना यह सब विपरीत कार्य महान् से महान् बुद्धिमान् की बुद्धि को भी खिन्न कर देता है। सारांश यह कि यह सब विरुद्ध धर्म भी ब्रह्म में हैं। तभी तो उसे सर्व शक्तिमान् कहते हैं। वेदों से लेकर रामायण तक प्रत्येक धर्मों में विरुद्ध गुण धर्म युक्त ईश्वर का प्रतिपादन है। देखिये यजुर्वेद :— अ०४० मं० ८

"सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्"

में नसों तथा व्रणों से रहित शरीर का होना स्वतः सिद्ध होता है।

"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (श्रुति)

"चिदानंदमय देह तुम्हारी विगतविकार जान अधिकारी" (रामायण)

"जन्म कर्म च मे दिव्यम्" (गीता ४-९)

"मूढोऽयं नाभिजानाति" (गीता)

"अनादिरादिगोविंदः सर्वकारण कारणम्" (ब्रह्म संहिता)

"अपाणिपादो जवनो गृहीता,, (श्वेताश्वतरोपनिषत्)

(विना हाथ पैर के दौड़ना कैसे)

अतएव उपरोक्त तथा अन्यान्य अनंतानंत प्रमाणों से निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर निराकार साकार निर्गुण सगुण निष्क्रिय सक्रिय सभी कुछ है। यदि वह ईश्वर कुछ नहीं हो अर्थात् कुछ न हो सके तो वास्तव में ईश्वर ही नहीं हो सकता। ऐसा अल्प सामर्थ्यवान् ईश्वर मानव मस्तिष्क की उपज ही हो सकता है सर्व समर्थ ईश्वर नहीं।

अवतार रहस्य

वेदानुद्धरते जगति वहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्य दारयते वलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते
पौलस्त्य जयते हलिं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः

अर्थात् मत्स्यावतार, कच्छपावतार, शूकरावतार, नृसिंहावतार, वामनावतार, परशुरामावतार, रामावतार, बलरामावतार, बुद्धावतार, कल्क्यवतार धारण करने वाले हे श्रीकृष्ण! तुमको नमस्कार है।

अवतरणमवतारः (अ उपसर्ग तृधातु घञ् प्रत्यय)

व्यापि वैकुंठाद्भगवतः प्रपंचे समागमनम्, अर्थात् लोक में उतरना या समझ में आना या दीखने लगना ही अवतार है।

अक्षर (धाम) ब्रह्म (बैकुंठ), व्यापक होने से व्यापि बैकुंठ कहा जाता है, अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम ब्रह्म उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे गंगाजी की शक्ति एवं साक्षात् गंगाजी। साक्षात् गंगा जी के समान पुरुषोत्तम ब्रह्म है एवं गंगाजी की शक्ति के समान अक्षर ब्रह्म है सूर्य्य एव सूर्य्य के प्रकाश की भाँति पुरुषोत्तम ब्रह्म एवं अक्षर ब्रह्म परस्पर एक हैं, चैतन्य महाप्रभु ने क्या ही अनुपम ढंग से इसी बात को स्पष्ट किया है वे कहते हैं:—

"ताहार अंगेर शुद्ध किरण मंडल उपनिषत् कहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल" अर्थात् हे पूर्णतम पुरुषोत्तम ब्रह्म श्रीकृष्ण! तुम्हारे अंग के

निकली हुई विशुद्ध किरण मंडल को ही वेदों ने विशुद्ध ब्रह्म कहा है। सत्+चित्+आनन्द इन तीनों धर्मों से युक्त पुरुषोत्तम ब्रह्म के तीन परस्पर अभिन्न स्वरूप हैं जिसे 'परब्रह्म (पुरुषोत्तम साकार ब्रह्म) आनन्द धर्म युक्त, तथा अक्षर ब्रह्म ज्ञान धर्म युक्त, एवं अन्तर्यामी ब्रह्म क्रिया धर्म युक्त कहते हैं। द्वितीय स्कंध भागवत में लिखा है जैसे मकड़ी अपने स्वरूप से ही तंतु निकाल कर सृष्टि बनाती है वैसे ही निर्गुण भगवान् भी अपने स्वरूप को ही सृष्टि के निमित्त तीन गुण रूप धारण कर लेते है। वे तीनो गुण ब्रह्म के ही समान दिव्य, शुद्ध, होते हैं। इन आत्म रूप अतएव शुद्ध गुणों के द्वारा ब्रह्म कल्पादि में सृष्टि हुई थी। इस सृष्टि में सब का हंस वर्ण था फिर पाद्मकल्पादि सृष्टि में भगवान् ने अपनी माया (सर्व भवन समर्थ) को करण (आधार) बना कर सृष्टि रची। माया के पास से होकर आने से वे तीनों ही गुण प्राकृत या अशुद्ध कहलाये यही अशुद्ध सत्व है।

अन्तर्यामी ब्रह्म का शुद्ध सत्व आश्रित हो कर अवतार लेने का नाम ही पुरुषावतार है। ऐसे अवतार चौबीस हैं। उसी अन्तर्यामी ब्रह्म का अशुद्ध या प्राकृत गुणों से आश्रित हो कर अवतार लेने का नाम गुणावतार अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शंकर हैं। सर्वत्र व्यापक अग्नि की भाँति परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं तपे हुये लोहे के समान आवेशावतार हैं प्रदीप्त अग्नि की भाँति-आविर्भावावतार, कृष्णावतार है, व्यापक अग्नि से लोक का साधारण लाभ

होता है किन्तु प्रकट अन्य अग्नियों से विविध लाभ होता है यही अवतार रहस्य है।

भगवान् के उपरोक्त तीनों ही स्वरूप परस्पर अभिन्न हैं एवं भगवान् के समस्त गुणावतार, आवेशावतार, पुरुषावतार, एवं आविर्भावावतार भी परस्पर अभिन्न हैं। देश, काल, अवसर तथा कार्यानुसार भगवान् कभी अपनी समस्त शक्तियों को लोक के समक्ष प्रकट करते हैं। एवं कभी कतिपय लघु शक्तियों को ही प्रकट करते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि अवतार छोटा बड़ा होता है स्मरण रहे भगवान् के समस्त अवतार समस्त शक्तियों से युक्त हैं एक न्यायाधीश न्यायालय में जज्ज साहब एवं घर में स्त्री के साथ पति तथा पुत्र के समक्ष पिता आदि बन जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि पुत्र के साथ तोतली भाषा में बोलता हुआ वह पिता उस समय अपनी न्यायाधीश की बुद्धि से रहित है अथवा यों समझिये कि कार्य्यानुसार एक प्रोफेसर (M.A.) क्लास को पढ़ाते समय एवं एक अबोध बालक को पढ़ाते समय अपनी बुद्धि को विस्तृत तथा संकुचित कर लेता है किंतु वह तो दोनों ही अवस्थाओं में प्रोफेसर की बुद्धि से युक्त है। अतएव कभी भी ऐसा अपराध न करना चाहिये कि अमुक अवतार छोटा है अमुक बड़ा है। यह समझ लेना चाहिये कि असीम शक्तिमान् ब्रह्म के टुकड़े नहीं हो सकते तथा अमृत के समुद्र की प्रत्येक बूंदों में समस्त अमृत के गुण धर्म विद्यमान रहते हैं। हाँ यह अवश्य है कि जिसकी रुचि तथा आकर्षण जिस अवतार में विशेष हो अथवा

जिस अवतार में विशेष मधुरतम लीलायें हुईं हों उसी का अवलंबन करना चाहिये। इस विषय में प्रत्येक जीव को पूर्ण स्वातंत्र्य है।

गीता में पूर्णतम पुरुषोत्तम ब्रह्म के तीन स्वरूप इस प्रकार बताये गये हैं।

"अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते
अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्,, (गीता ८-३)

अर्थात् उस ब्रह्म के तीन परस्पर अभिन्न स्वरूपों में एक स्वरूप अक्षरब्रह्म का है जिसे आध्यात्मिक ब्रह्म भी कहते हैं। दूसरा स्वरूप क्षर ब्रह्म का है जिसे आधिभौतिक ब्रह्म भी कहते हैं। तीसरा स्वरूप पुरुषोत्तम ब्रह्म का है जिसे आधिदैविक ब्रह्म भी कहते हैं। आगे चल कर गीता कहती है;—

"यस्मात्क्षरमतीतोऽहं ह्यक्षरादपि चोत्तमः
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" (गीता १५-१८)

अर्थात् यद्यपि यह मेरे ही तीनों विशुद्ध स्वरूप हैं तथापि मैं क्षर एवं अक्षरब्रह्म से श्रेष्ठ पुरुषोत्तम सगुण साकार ब्रह्म हूँ। एक महानुभाव ने बड़ा ही सुन्दर रूपक बनाया है, वे कहते हैं कि जब नारद जी स्वर्ग लोक से मृत्यु लोक को श्रीकृष्ण के पास आ रहे थे उस समय सर्व प्रथम साधारण जनता ने यह समझा कि स्वर्ग से कोई तेजः पुञ्ज उतर रहा है। फिर और निकट आने पर समझा "इस तेजः पुञ्ज में कुछ मनुष्य का भी आकार बना हुआ है।" फिर समक्ष आनेपर निश्चय किया कि अरे! ये तो नारद मुनि हैं।

" चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्
....
क्रमादयं नारद इत्यबोधि सः"

(शिशुपालवध)

ठीक इसी प्रकार सगुण साकार ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। उनका मध्य का स्वरूप ही क्षर ब्रह्म है एवं उनका ही पूर्व रूप तेजः पुञ्ज वाला अक्षर ब्रह्म है। भागवत और ही प्रकार से ब्रह्म के तीन स्वरूप बतलाती है

"वदंति यत्तत्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते"

अर्थात् जिस तत्व को तत्व-वेत्ता ज्ञानी जन अद्वैत ज्ञान स्वरूप बताते हैं वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् इन तीन परस्पर अभिन्न स्वरूपों वाला हो जाता है। भगवान् ही पुरुषोत्तम ब्रह्म है परमात्मा के हेतु ऋग्वेद कहता है :—

"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वयत्यनश्नन्योऽभिचाकशीति"

अर्थात् जीव और परमात्मा दो पक्षी एक शरीर रूपी वृक्ष पर रहते हैं। वे दोनों परस्पर सखा रूप हैं उन दोनों में से एक तो जीव रूपी पक्षी इस शरीर के शुभाशुभ कर्म फलों को स्वादिष्ट समझ कर खाता है एवं दूसरा परमात्मा रूपी पक्षी इस शरीर रूपी वृक्ष

के कर्म फलों को न भोगता हुआ नित्य द्रष्टा बन कर बैठा रहता है। गीता भी कहती है:—

"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः"

अर्थात हे अर्जुन! मैं समस्त प्राणियों के हृदय में आत्मा रूप से नित्य विराजमान रहता हूँ यह आत्मा परमात्मा का पर्याय-वाची शब्द है। तीसरा स्वरूप ब्रह्म का है जिसे अक्षर ब्रह्म भी कहते हैं। इस प्रकार भागवत के सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्, तीन अभिन्न ब्रह्म के स्वरूप हैं। यह निर्विवाद सिद्ध विषय है कि ब्रह्म के दो ही स्वरूप उपासना में प्रयुक्त होते हैं। जिसे निराकार ब्रह्म एवं साकार ब्रह्म कहते हैं। इन्हीं दोनों के उपासना भेद से ज्ञान मार्ग एवं भक्ति मार्ग की स्थापना हुई है। दोनों ही मार्ग भगवत्प्राप्ति कराते हैं। आत्यंतिक-दुख-निवृत्ति राग, द्वेष, अभिनिवेश, अविद्या, अस्मिता, आदि पंचक्लेश शांति, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप-शमन, एवं मानस रोगों की निवृत्ति, तथा संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण कर्मों का अत्यन्ताभाव ज्ञान या भक्ति दोनों ही मार्ग से हो जाता है तुलसी दास कहते हैं:—

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

अब तुम इतना तो समझ ही गये होगे कि ईश्वर है एवं वह सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञादि गुणों से युक्त भी है। तथा उसके अनंत स्वरूप होते हुए भी उपासना के दृष्टि-कोण से निराकार एवं साकार दो ही प्रमुख स्वरूप हैं। जिनकी प्राप्ति ज्ञान एवं भक्ति

मार्ग के द्वारा होती है, तथा जिसके परिणाम स्वरूप भवरोग की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। अब हम अवतारों में भी परम मधुरतम श्री कृष्णावतार की भगवत्ता सिद्ध करते हैं। किन्तु उसके भी पूर्व अवतार लेने का प्रमुख कारण बता रहे हैं। ध्यान देकर सुनो।

अवतार लेने के कारण

अवतार लेने के अनंत कारण है, एवं भागवत के अनुसार "अवतारा ह्यसंख्येया,, अवतार भी अनन्त हैं। गीता अवतार का कारण तीन श्लोकों में बताती है :—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपिसन्
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया"। (गीता ४—६)

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत.
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"। (गीता ४—७)

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्,
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"। (गीता ४—८)

भावार्थ यह साधुओं का परित्राण, दैत्यों का विनाश, एवं धर्म संस्थापन ही सगुण साकार भगवान् के अवतार का मुख्य कारण है। किन्तु इसके अतिरिक्त अनन्त अवतार कारण होते हैं। भागवत कहती है

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतोभुवि,
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः"।

अर्थात् मनुष्यों के परम कल्याण के हेतु ही भगवान् का अव-तार होता है। कुछ लोग कहते हैं कि परमहंसों को श्रीपरमहंस बनाने के लिये अर्थात् ज्ञानियों को प्रेम रसपरिप्लुत करने के लिये ही अवतार होता है। भागवत कहती है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
"भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः", ॥ (१-८-२०)

किन्तु मुझे तो यही प्रतीत होता है कि अन्य समस्त कारणों से प्रधान कारण यही है कि निर्विशेष निराकार ब्रह्म की उपासना करने में समस्त जीवों के अनधिकारी होने के कारण नातिसक्त, नातिविरक्त जीवों के उद्धारार्थ ही अवतार होता है। जिससे जीव उन सगुण साकार नाम, रूप,गुण, लीलादिकों का अवलंबन करके कृतार्थ हो जाय। फिर अवतार होने पर अन्य सब कार्य तो स्वतः हो ही जायेंगे। आइये, रामावतारादि के विषय में कुछ विचार करें। आपसे कोई पूछे, रामावतार क्यों हुआ! आप कहेंगे, राव-णादि को मारने तथा विश्वामित्रादि की रक्षा करने, एवं यज्ञादि धर्म संस्थापना करने को हुआ था। हम पूछते हैं इतने तूल की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि रावणादि के मारने मात्र से ही विश्वा-मित्रादि की रक्षा स्वयं हो जाती एवं विश्वामित्रादि की रक्षा के करने मात्र से धर्म-संस्थापन स्वयं ही हो जाता। अस्तु यह भी जाने दीजिये। मैं पूछता हूँ रावण था कौन? कई कथायें सुनते हैं। भागवत के अनुसार जय विजय वैकुण्ठ के दो पार्षद थे। जहाँ माया का प्रवेश नहीं है, वहाँ भी जय विजय ने सनकादि ऋषियों

को बैकुण्ठ में जाने से रोक कर अज्ञानता का परिचय दिया, जो कि सिद्धान्तानुसार संभव नहीं हो सकता। तत्पश्चात् सनकादि महर्षियों ने जय विजय को शाप दे दिया। वाह! क्या ही विचित्र बात है। नित्य आत्माराम, पूर्णकाम, सर्वथा निष्काम, योगीन्द्र, अमलात्मा, जीवन्मुक्त, ब्रह्मलीन, परमहंस, सनकादिकों को भी द्वैत रूपी अज्ञान ने धर दबाया। तभी तो क्रोध की उत्पत्ति हुई। हम फिर पूछते हैं कि जय विजय ने सनकादि ऋषियों को बैकुण्ठ में जाने से रोका ही क्यों? जय विजय तो अनादि काल से भगवान् के पार्षद थे। महाजन उत्तर देते हैं कि भगवान् को युद्ध करने की इच्छा हुई। उन्होंने ब्रह्मादिकों को निर्बल समझा अतएव उन्होंने अपने ही लोक के पार्षद को ही दैत्य बनाने का आयोजन किया। यदि हम पुनः प्रश्न करें कि पूर्ण काम भगवान् की इच्छा की उत्पत्ति ही असंभव है। इच्छा हुई ही क्यों? यदि यह भी मान लें कि भगवान् इच्छा के आधीन नहीं किन्तु इच्छा कर सकते हैं तब भी ऐसी अमगल-मयी इच्छा अकारण करुणा-वरुणालय भगवान् को क्यों हुई? जिसके परिणाम स्वरूप युगों तक विश्व में हाहाकार मचा रहा। इसका उत्तर पंडितों के पास कुछ भी नहीं है। वे कहते हैं कि भगवान् की लीला कोई नहीं समझ सकता। यह ठीक है कि भगवान् की लीला मनुष्यों की बुद्धि में नहीं आ सकती, किन्तु महापुरुष तो समझते हैं। उन महापुरुषों के द्वारा एवं मेरी सम्मति में इसके आगे यही उत्तर है कि इसी व्याज से समस्त जीवों के समक्ष अनन्त काल के लिये सगुण साकार भग-

वान् की मधुर मधुर लीलाओं को करते हुए उन अल्पज्ञ जीवों को आकर्षित करना ही तो था। अर्थात् भगवान् ने सोचा कि साधारण जीव भी जो निराकार ब्रह्म को समझने में देहाभिमान युक्त होने के कारण असमर्थ हैं मेरे परम मधुर परमहंसो से भी मृग्यमान नाम, गुण, लीला, धामादि, माधुरी को पान कर कृत कृत्य हो जाय। यही तो अकारण करुण भगवान् की अकारण कृपा का ज्वलंत उदाहरण है। इसी भाव को लेकर कुंती भगवान् श्री कृष्ण से क्या ही सुन्दर उक्ति से कहती है। भागवत—

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढ़दृशा नटो नाट्यधरो यथा ॥,, (१-८-१८)
भवेऽस्मिन्क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन (१-८-३५)

अतएव भगवान् का अवतार जीवों को स्वरूप दान करने के निमित्त अकारण कृपा से ही होता है। शेष कारण तो आगंतुक होते है। तथा वे सभी सत्य होते हैं। वस्तुतस्तु दैहिक, दैविक, भौतिक तापों में तपते हुये जीवों को देख कर एवं वेदों शास्त्रों के निर्माण करने पर भी जीवों का उद्धार न होते देख कर भगवान् सगुण साकार बन कर अवतार स्वरूप से मधुर मधुर लीलाओं द्वारा उन मायोन्मत्त जीवों को अपनी ओर खींचते हैं। कितनी करुणा है अकारण करुण भगवान् के हृदय में। तभी तो उनकी कृपा को अनुभव करने वाले रसिक जन कहते हैं, "हठि हठि अधम उधारे।"

श्री कृष्ण ब्रह्म हैं

(कृषिर्भूवाचकः शब्दःणश्च निवृत्ति वाचकः
विष्णोस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः)

प्रदीप्त अग्नि की भाँति आविर्भावावतार, पुरुषोत्तम, आनन्द कन्द। ब्रजेन्द्रनन्दन श्री कृष्णचन्द्र ब्रह्म श्रीकृष्ण व्यापक हैं, पुरुषोत्तम हैं, सर्वकर्ता हैं, अप्रमेय हैं, आनन्दमय हैं, निर्गुण हैं, अप्राकृत हैं, सर्वशक्तिविशिष्ट हैं, अंशकलापूर्ण हैं, सर्वोद्धार-प्रयत्नात्मा हैं, निर्दोष हैं, पूर्णकल्याणगुण हैं; मायाधीश हैं। इन उपरोक्त ब्रह्म के गुणों को श्रुति गीता एवं भागवत के प्रमाणों द्वारा हम संक्षेप में उद्धृत करते हैं।

श्रुति—"स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्
स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम् इति।"

गीता—"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" (सप्तमाध्याय)
"मया ततमिदं सर्वं" "सर्वाणिभूतानि मत्स्थानि" (नवमाध्याय)
"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"
"अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः" (दशमाध्याय)
"तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा"
"अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पांडवस्तदा"
"सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः"
"द्यावा पृथिव्यौ आदि" (एकादशाध्याय)

भागवत—"भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृक् प्रभो
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया"

श्रुति—"स उत्तमः पुरुषः" (छान्दोग्योपनिषत्)

गीता—"यस्मात्क्षरमतीतोऽहं ह्यक्षरादपि चोत्तमः
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" (१५ वाँ अध्याय)

भागवत—"विदितोऽसि भवान्साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः"
केवलानुभवानंदस्वरूपः सर्वबुद्धिदृक्" (१०=४)

श्रुति—"दिव्यो ह्यमूर्तो पुरुषः स वाह्याभ्यंतरो अजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः ह्यक्षरात्परतः परः" (मुंडकोपनिषत्)

गीता—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" "जन्म कर्म च मे दिव्यं"
"न च मां तानि कर्माणि निवध्नंति धनंजय !"
"परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्"
"परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्"
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्"

भागवत—"नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च (१०—१६)

श्रुति—"सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म एतस्माज्जायते"
मनः सर्वेन्द्रियाणि च। तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः संभूतः" आनंदं ब्रह्मणो रूपं। (तैत्तिरीयोपनिषत्)

गीता—"अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा"
"अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते"

भागवत—"त्वत्तोऽस्य जन्म स्थिति संयमान्विभो........।

"नित्योऽक्षरोजस्रसुखो निरंजनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः

(दशम स्कंध)

श्रुति—"यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः"

गीता—भिन्ना प्रकृतिरष्टधा "प्रकृतिं विद्धि मे पराम्"

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"

"ब्रह्मणों हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च"

"मत्तः सर्वं प्रवर्तते"

भागवत—"पुरुषेश प्रधानस्य ब्रह्मणोऽनंत शक्तये

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या..........."। (दशम स्कंध)

तात्पर्य यह कि:—भागवत के अनुसार— (स्कंध १०)

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढ़ं ब्रह्मणि वाङ्मये

गीता के अनुसार

"परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्"

गीता में "अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र" कह कर "नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्" और "अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य" कह कर "शशि-सूर्यनेत्र" कहा है। इससे सिद्ध है कि श्रीकृष्ण को दिव्यसाकार मान कर ही व्यापक माना है। श्रीकृष्णसर्वाकार, अलौकिक, अप्राकृत, दिव्य आनंदस्वरूप हैं। अतएव स्वरूपभूत हैं; तथा नित्य हैं। यदि कहो कि फिर श्रीकृष्णाकार प्राकृत क्यों प्रतीत होता है? इसका कारण यह है कि जीव का ज्ञान अज्ञान से आवृत है एवं भगवान् योगमाया से आवृत हैं। अतएव अल्पज्ञ

जीव उस दिव्य चिन्मय स्वरूप को नहीं देख पाता। गीता कहती है :—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जन्तव:"

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"

"मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्"

"अवजानंतिमां मूढ़ा मानुषीं तनुमाश्रितम्"

"परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्"

सारांश यह कि श्रीकृष्ण परं ब्रह्म हैं एवं उनका आकार भी परम दिव्य है एवं वे उपरोक्त समस्त ब्रह्म के गुणों से विशिष्ट हैं।

वेद में श्रीकृष्ण

"कृष्णं त एमरुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषा
मिदेकम्, यदप्रवीता दधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातो
भवसीदुदूतः १ (ऋग्वेद म०—४—७—६—२)

अर्थात् तुम्हारे श्रीकृष्ण रूप के हम शरणागत हैं। तुम तीनों लोकों को रुद्ररूप हो कर संहार करते हो, तथा ज्ञानमय जोवों के तुम्ही एकमात्र कारण हो। बेड़ो के कारण चलने में असमर्थ ऐसी देवकी के गर्भ से अवतार लेते ही देवकी से वियुक्त हो जाते हो।

"एतद्धोरआंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायो-
क्त्वोवाचेति सोऽपिपासएव वभूव।"
(सामवेद (छा० प्र० ३—१७)

अर्थात् अङ्गिरा गोत्री घोर नामक ऋषि कहते हैं, यह पुरुष-यज्ञ देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को समर्पित हो। ऐसा कह कर वे संसार सागर से मुक्त हो गये।

"कालिको नाम सर्पो नवनागसहस्रबलः यमुनह्रदे
हसो जातो यो नारायणवाहनः"
(ऋक् परिशिष्ट पंचमाष्टकवर्ग २२)

अर्थात् कालीनाग नव हजार हाथियों का बल वाला यमुना

के कुण्ड में भगवान् के द्वारा परास्त हो कर बाहन बनाया गया। इसी प्रकार वेद में रामावतार का वर्णन मिलता है।

"भद्रो भद्रया सचमान आगात्
स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्सुप्रकेतैर्द्युभिरग्नि-
र्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्"

(सामवेद उ० १५-८-३)

अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्र महारानी सीता के साथ दण्डकारण्य को आये यहाँ राम के परोक्ष में सीता के हाथ पकड़ने को रावण आया। तत्पश्चात् रावण मारा गया एवं सुन्दर चिह्न से दीप्त द्युलोक की साधनभूत राम की पत्नी के सहित विराजमान अग्नि देवता राम के समक्ष उपस्थित होते हैं तथा यह कह कर जानकी को समर्पित करते हैं कि हे राम ! जानकी विशुद्ध हैं।

"अर्वाची सुभगे भव सीते ! वंदामहे त्वा यथानः
सुभगासि यथानः सुफलासि"

(ऋग्वेद ३-८-९)

हे असुरनिकन्दिनी सीते ! मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम हमारी रक्षा एवं शत्रुओं का संहार करते हुए हमारे अनुकूल रहो।

उपनिषत् ब्रह्मसंहिता तथा अन्यान्य पुराणों में श्रीकृष्ण

"कृष्णो ह वै हरिः परमो देवः षड्विधैश्वर्यपरिपूर्णो
भगवान्गोपीगोपसेव्यो वृन्दाराधितो वृन्दावनाधिनाथः
स एक एवेश्वरः तस्य ह वै द्वे तनुर्नारायणोऽखिल-
ब्रह्माण्डाधिपतिरेकोंऽशः प्रकृतेः प्राचीनो नित्यः।"

अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् परमदेव हैं, स्वयं हरि हैं, षडैश्वर्यपरिपूर्ण हैं, गोपी एवं गोप जनों से सेवित हैं, वृन्दा के आराध्य हैं, एवं वृन्दावन के स्वामी हैं। वे श्रीकृष्ण केवल एक ही है किंतु उनके दो शरीर हैं जिसमें से एक शरीर अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक नारायणस्वरूप है, वह शरीर भी श्रीकृष्ण का एक अंशमात्र है तथा प्रकृति से भी पुरातन एवं नित्य है।

"ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानंदविग्रहः
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्"

(ब्रह्म संहिता)

अर्थात् परमेश्वर सच्चिदानन्द-देह-धारी श्रीकृष्ण हैं, वे समस्त कारणों के आदिकारण हैं तथा स्वयं अनादि हैं।

"यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलंब्य
जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः
विष्णुर्महान्स इह यस्य कलाविशेषो-
गोविंदमादिपुरुषं तमहं भजामि"

(ब्रह्म संहिता)

अर्थात् जिन आदिपुरुष श्री कृष्ण के एक श्वास का अवलंबन करके अनंतकोटिब्रह्माण्डों के नायक जीवित रहते हैं, जो कि श्रीकृष्ण के रोम से उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि महाविष्णु भी जिन श्रीकृष्ण की एक कलाविशेष मात्र हैं, उन श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ।

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक् ।"

(भा० २ - ६ - ३२)

अर्थात् ब्रह्माजी नारदजी से कहते हैं कि मैं उन्हीं श्रीकृष्ण के द्वारा नियुक्त होकर सृष्टि करता हूँ, शंकर जी उन्हीं के वशीभूत होकर संहार करते हैं, एवं विष्णु जी विश्व का पालन करते हैं, इन तीनों ही शक्तियों को धारण करने वाले श्रीकृष्ण ही हैं।

"नाहं न यूयं यहतां गतिं विदु—
र्न वामदेवः किमुतापरे सुराः ।"

(भा० २-६-३७)

ब्रह्माजी नारदजी से कहते हैं कि उन श्रीकृष्ण की महिमा को हम तुम या शंकरादि कोई भी नहीं जान सकते ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण कहता है:—

'महाविराएमहाविष्णुस्त्वं तस्य जनको विभो'

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! तुम महाविराट् एवं महाविष्णु को भी उत्पन्न करने वाले हो, तात्पर्य यह कि वे भी तुम्हारे अंश हैं। आदि शंकराचार्य लिखते हैं।

"ब्रह्माण्डानि बहूनि पंकजभवान्प्रत्यंडमत्यद्भुतान्
गोपान्वत्ससुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्चयः
शंभुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ।"

भावार्थ यह कि अनंतकोटि ब्रह्माण्डों के पृथक्-पृथक् ब्रह्मा विष्णु शंकर होते हैं, एवं उन सबके संचालक महाविष्णु होते हैं, और वे महाविष्णु भी तुम्हारे ही अंश हैं। तुम सच्चिदानन्द-स्वरूप हो।

श्रीकृष्ण भगवान् हैं

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्ययशसः श्रियः
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"

अर्थात् ऐश्वर्य्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, इन सम्पूर्ण छहों सम्पत्तियों का एक ही स्थल पर प्रकट होना ही भगवान् का लक्षण है। सारांश यह कि उपरोक्त षडैश्वर्यपरिपूर्ण ही भगवान् कहलाता है। अब यह देखना है, कि ये षडैश्वर्य, श्रीकृष्ण में कहां-कहां प्रकट हुए थे।

ऐश्वर्य—यशोदा को मृद्भक्षणकाल में (मिट्टी खाने के समय में) अनंतकोटिब्रह्माण्डों से युक्त अपना विराट् स्वरूप दिखाया। महाभारत में अर्जुन को दिव्यदृष्टि देकर अपना स्वरूप दिखाया। राजदूतावस्था में दुर्योधनादि को विराट् स्वरूप दिखाया। महाभारत के युद्ध से लौटते समय उत्तंक मुनि को विराट् स्वरूप दिखाया। ब्रज में गोपों को विराट् स्वरूप दिखाया। यह विराट् स्वरूप दिखाना भगवान् के अतिरिक्त किसी से भी शक्य नहीं है। द्वारिका के एक ब्राह्मण के नव पुत्रों को उनकी मृत्यु के पश्चात् पुनः नारायण के पास जाकर लाये। कौरवों की सभा में द्रौपदी के निमित्त तत्क्षण अम्बरावतार धारण कर लिया। ऊखलबंधन के समय ब्रजमात्र की रस्सी छोटी पड़ती गयी। अक्रूर को शेषशायी महाविष्णु का स्वरूप दिखाया। महारास

में अनन्त श्रीकृष्ण रूप एवं गोपीरूप धारण किया। नारद को द्वारिका में १६१०८ पत्नियों के साथ पृथक्-पृथक् अपना रूप दिखाया। ब्रह्मा को मोहित करके परास्त किया। इन्द्र का मान मर्दन किया। मथुरा में कंसादिकों को विविधरूप से दर्शन दिया, एवं खेल-खेल में उनका बध किया। सुदामा को दो मुट्ठी तंडुल में ही दो लोक दे दिया। शकटासुर, अघासुर, बकासुर, पूतना, कालिय, शिशुपालादि का संहार किया, दावानल पान किया इत्यादि कतिपय ऐश्वर्य के उदाहरण हैं।

धर्म—माता पिता को ग्यारह वर्ष की आयु में ही कारागार (जेल) से छुड़ाया। देवकी के छहों मृतपुत्रों को बलि के यहाँ से ला दिया। नन्दजी को वरुणलोक से छुड़ा कर लाये, तथा अजगर से बचाया। गुरु के यहाँ चौंसठ दिन में ही चौंसठ विद्याओं का अध्ययन कर लिया तथा गुरु-दक्षिणा में मरे हुए गुरु के पुत्र को यमलोक से ला दिया। नारदादिकों के अतिरिक्त भी सुदामा आदि साधारणब्राह्मणों के चरणों को आंसुओं से धोया। गोमाता की गोकुल में इतनी सेवा की कि उनका नाम ही गोपाल पड़ गया। राजनीति में बिना शस्त्र उठाये ही समस्त दैत्यों के संहार में जो बुद्धिकौशल दिखाया, वह किसी से अज्ञात नहीं है। शरणागतद्रौपदी एवं पाण्डवों की बार-बार अनेक मरणान्तकष्टों से रक्षा की। भक्त भीष्मपितामह की प्रतिज्ञापूर्ति में अपनी प्रतिज्ञा भी छोड़ दी। शिष्य अर्जुन को दिव्यदृष्टि देकर विराट् स्वरूप दिखाते

हुये गुरुत्व का परिचय दिया । मित्र गोपों को भी अपना विराट् स्वरूप दिखाया। शत्रु दुर्योधन को राजदूत बन कर समझाने का प्रयत्न किया तथा उसके न मानने पर भी न्याय एवं समदर्शिता के कारण उसे अठारह अक्षौहिणी सशस्त्र सेना दी। गोपियों के साथ निष्काम प्रेम के वास्तविक स्वरूप का परिचय दिया। राजसूय यज्ञ में सारे संसार के प्रति अतिथि-सेवा, पाद-प्रक्षालन एव पत्तलों को उठा कर विश्व-सेवक का परिचय दिया।

यश—अनंत कोटि ब्रह्माण्डों के अनंत ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, आदिकों से भी आराध्य एवं स्तुत्य हैं। स्वर्गाधीश इन्द्र, वरुण, कुबेर, यमराज, लोकपालादिकों से भी पूज्य हैं। अनादि काल से समस्त आध्यात्मिक महापुरुषों के एकमात्र आराध्य हैं। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य, शंकराचार्य, आदि भूतपूर्व महापुरुषों के भी आराध्य हैं। हरिवंश, व्यास, ललित किशोरी, नित्यानन्द, हरिदास, जयदेव, मीरा, सूर, आदि रसिकों के तो प्राण ही हैं। विदेशों में भी अङ्गरेजों में टामस कारलाइल (Thomas Carlyle) आदि, अमेरिकनों में राल्फ बाल्डो एमर्सन (Ralph Baldo Emerson) आदि ने भी श्रीकृष्ण की गीता के आधार पर अपनी-अपनी फ़िलासफ़ी लिखी। ईसा ने बाइबिल (Bible) भी गीता के ही आधार पर लिखी। इस बात का प्रमाण फ्रांस के एक ग्रंथकर्ता फ़िलॉसफ़र जेकोल्यिाट (Jakolyat) देते हैं।

श्री - जिनकी रुक्मिणीरूपी महालक्ष्मी ही अर्धाङ्गिनी हैं उनकी श्री के विषय में क्या कहा जाय। जो सुदामा के दो मुट्ठी तंडुल चबा कर ही योगमाया के द्वारा दो लोक प्रदान कर सकते हैं उनकी श्री की क्या सीमा बांधी जाय।

वैराग्य—कंसादि को मार कर भी स्वयं राज्य नहीं ग्रहण किया, राजसूययज्ञ में अत्यन्त ही अभिमानशून्य होकर साधारण जीवों के चरणों का प्रक्षालन किया। सौ करोड़ गोपियों के साथ महारास करते हुये भी आत्माराम, अवरुद्ध-सौरत, साक्षान्मन्मथमन्मथ एवं मदनमोहन ही बने रहे।

ज्ञान—जिन्होंने अपनी योगमायामात्र से दिव्य चक्षु देकर अर्जुन को दिव्य ज्ञान प्रदान कर दिया, उनके स्वयं के ज्ञान को भला कौन नाप सकता है ?

उपरोक्त षडैश्वर्यवर्णन तो अल्पज्ञों को समझाने के हेतु अत्यन्त अणुरूप ही है, पूर्णतया वर्णन तो शब्द अथवा मन, बुद्धि, में भी नहीं समा सकता। कुछ लोग षडैश्वर्य इस प्रकार कहते हैं।

"ज्ञानबीर्यवलैश्वर्य वीर्यतेजांस्यशेषतः,, ।
भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हेयैर्गुणादिभिः ॥,,

इन षडैश्वर्यों को भी पूर्वोक्तषडैश्वर्य के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

अनंत कोटि ब्रह्माण्ड-नायक श्रीकृष्ण

"संख्या चेत् रजसामस्ति विश्वानां च कदाचन"

अर्थात् समस्त पृथ्वी के रजकणों की गणना भले ही हो जाय, किन्तु ब्रह्माण्डों की गणना नहीं हो सकती। उपनिषत् :—

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि
अनंतकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलंति।
चतुर्मुखपंचमुखषण्मुखसप्तमुखाद्ष्टमुखादिसंख्या
क्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुण
प्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वरा
ख्यैर्नारायणांशैः सत्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थिति
संहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्य
बुद्बुदानंतसंघवत् भ्रमन्ति।

तात्पर्य यह कि जिस ब्रह्माण्ड में हम लोग रहते हैं, यह तो सब से छोटा ब्रह्माण्ड है। इस ब्रह्माण्ड के चारों ओर हजारों गुने बड़े असंख्य ब्रह्माण्ड हैं। ब्रह्माण्ड एक-एक ब्रह्मा, विष्णु, एवं शंकर से अधिष्ठित हैं। इस विषय में चैतन्य चरितामृत में एक बड़ी ही विनोदमयी कथा है।

चैतन्य चरितामृत

एक दिन द्वारिका ते कृष्णेन देखिवारे।
ब्रह्मा आइला द्वारपाल जगाइला कृष्णेरे।

कृष्ण कहेन कोन् ब्रह्मा कि नाम ताहार।
द्वारी आसि ब्रह्मारे पूछे आरबार।
कह गिया सनक पिता चतुर्मुख आइला।
कोन ब्रह्मा पूछले तुम कोन् अभिप्राये।
आमा वइ जग ते आर कोन् ब्रह्मा हये।
सुनि कृष्ण हासि तवे करि लेक ध्यान।
असंख्य ब्रह्मारगण आइला तत् क्षन
शत-विश-सहस्र-युत-लक्ष-बदन
कोट्यार्बुद मुख कारो ना हय गणन
रुद्र गण आइला लक्ष कोटि नयन
देखि चतुर्मुख ब्रह्मार हैल चमत्कार
कृष्णेर चरणे आसि कैल नमस्कार
एइ ब्रह्माण्ड पञ्चाशत कोटि योजन
अति क्षुद्र ताते तोमार चारि बदन
कोन् ब्रह्माण्डे शत कोटि कोन् लक्ष कोटि
कोन् नियुत कोटि कोन् कोटि कोटि
ब्रह्माण्डानुरूप ब्रह्मार शरीर वदन
एइ रूपे पालि आनि ब्रह्माण्डेर गन

अर्थात् एक दिन द्वारिका में श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ ब्रह्मा जी आये, तथा उन्होंने द्वारपाल से कहा कि श्रीकृष्ण से कह दो कि ब्रह्मा-जी आये हैं। द्वारपाल ने जाकर श्रीकृष्ण से कहा। श्रीकृष्ण ने द्वारपाल से कहा कि कौनसा ब्रह्मा आया है? बड़े ही आश्चर्य

पूर्वक ब्रह्मा ने द्वारपाल से कहा कि सनकादिकों के पिता सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा आये हैं। जब ब्रह्माजी श्रीकृष्णभगवान् के पास पहुंचे तब सर्वप्रथम बड़े ही कौतूहल के साथ यह पूछा कि भगवन्! आपके इस प्रश्न का क्या अभिप्राय था कि कौनसा ब्रह्मा आया है। मेरे सिवा भला और कौन ब्रह्मा है। जिसके हेतु आपको संशय हुआ। भगवान् ब्रह्मा की बात सुन कर हँस पड़े, तथा योगमाया युक्त होकर ध्यान करने लगे। इतने में तत्क्षण वहां असंख्यों ब्रह्मा आगये। कोई बीस मुख का, कोई सौ मुख का, कोई हज़ार मुख का, कोई दस हज़ार मुख का, कोई लाख मुख का, कोई असंख्य मुख का भी ब्रह्मा था। साथ ही असंख्यों शंकर भी आगये, जिन में भी कोई लाख, कोई करोड़, तक मुख वाले थे लाखों करोड़ों नेत्र वाले इन्द्र भी आगये। यह सब नाटक देख कर ब्रह्मा जी घबड़ा गये, एवं श्रीकृष्ण-भगवान् के चरणों में विह्वल होकर गिर पड़े। श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा, अरे ब्रह्मा! तुम्हारा ब्रह्माण्ड तो केवल पचास करोड़ योजन अर्थात् चारसौ करोड़ मील का ही है। यह तो सब से छोटा ब्रह्माण्ड है, इसी से तो तुम्हारे केवल चार मुख हैं। जितने बड़े ब्रह्माण्ड होते हैं, उतने ही बड़े ब्रह्मा के शरीर एवं मुख होते हैं, कोई ब्रह्माण्ड सौ करोड़ योजन का, कोई लाख करोड़ योजन का कोई दस लाख करोड़ योजन का तथा कोई करोड़-करोड़ योजन का होता है। इस प्रकार असंख्यों ब्रह्माण्डों का पालन मैं ही करता हूँ। समझे! अब

कभी भी ऐसी भूल मत करना। भागवत में ब्रह्मा जी कहते हैं कि :—

"क्वाऽहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू

...."

अभिप्राय यह कि जैसे खिड़की से सूर्य की किरणों में असंख्य त्रसरेणु उड़ा करते हैं, ऐसे ही हे श्रीकृष्ण ! आपके एक एक रोम में असंख्यों ब्रह्माण्ड लटकते रहते हैं।

———

राधा-तत्व

मैं राधा-तत्व के विषय में विशेष कुछ नहीं कहना चाहता, केवल इतना ही समझ लेना चाहिये कि जिस तत्व को श्रीकृष्ण-ब्रह्म सदा ढूँढ़ा करते हैं, एवं राधाकृपा ही से उस तत्व को प्राप्त कर पाते हैं, तथा जिस तत्व को शुकदेव जी ने भी अत्यंत गूढ़ समझ कर भागवत सदृश विशाल ग्रंथ में प्रकट नहीं किया, उस तत्व के विषय में मैं थोड़ा बहुत लिखने की सामर्थ्य रखते हुये भी नहीं लिखना चाहता। केवल संकेत में ही इतना समझ लेना चाहिये कि यह तत्व परात्पर तत्व है, एवं इस तत्व को जानने का अधिकारी भी कोई कोई ही होता है। साधारणतया इतना परिज्ञान पर्याप्त है कि राधा कृष्ण दोनो ही तत्व वस्तुत: एक ही हैं। जो राधा हैं, वही श्रीकृष्ण हैं। जो श्रीकृष्ण हैं, वही राधा हैं। रसिकों के दृष्टिकोण से राधिका का महत्व श्रीकृष्ण से भी अधिक है। आप लोग राधातत्व के विषय में मेरे कुछ भी न लिखने से असंतुष्ट होंगे, अतएव कुछ लिख ही देते हैं। राधा तत्व के विषय में पूर्ण ज्ञान राधा जी को ही है, किन्तु उन्होंने अपने तत्व का वर्णन अपने आप ही नहीं किया। हाँ, राधावतार गौरांग महाप्रभु ने स्वयं राधातत्व के बिषय में जो कुछ लिखा है उसे हम उद्धृत करते हैं।

चैतन्य चरितामृत

"कृष्णेर अनंत शक्ति ताते तिन् प्रधान ।
चिच्छक्ति, मायाशक्ति, जीवशक्ति नाम
अन्तरङ्गा बहिरङ्गा तटस्था कहि जारे ।
अन्तरङ्गा स्वरूपशक्तिसबार ऊपरे ।"

अर्थात् परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण की शक्तियां अनंत हैं, जिनमें तीन प्रधान हैं। एक का नाम चित् शक्ति, एक का नाम माया-शक्ति एवं एक का नाम जीव शक्ति है। वे क्रम से अन्तरङ्ग बहिरङ्ग, एवं तटस्थ हैं। इन समस्त शक्तियों में अन्तरङ्गचित्शक्ति, स्वरूपशक्ति होने से सर्वश्रेष्ठ है। इसी भाव को विष्णु पुराण ६–८–६१ में कहता है

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्ति रिष्यते"

फिर चैतन्य चरितामृत कहता है :—

"सत् चित् आनंदमय कृष्णेर स्वरूप ।
अतएव स्वरूपशक्ति होय तिन रूप
आनंदांशे ह्लादिनी सदंशे संधिनी
चिदंशे संवित् जारे ज्ञान करिमानि ।"

अर्थात् ब्रह्म श्रीकृष्ण का स्वस्वरूपशक्तिमयस्वरूप, सत्, चित्, आनंदमय है, अतएव उपरोक्त स्वस्वरूप-शक्ति तीन प्रकार की हुई । आनंद स्वरूपशक्ति से ह्लादिनीशक्ति की

उत्पत्ति, तथा सत्-स्वरूप-शक्ति से संधिनी-शक्ति की उत्पत्ति, एवं चित्स्वरुपशक्ति से संवित्ज्ञानशक्ति की उत्पत्ति होती है। इसी भाव को विष्णु पुराण १-१२-६९ में कहता है :—

"ह्लादिनी संधिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंश्रये।
ह्लास्तापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते ॥"

फिर चैतन्य चरितामृत कहता है:—

कृष्णके आह्लादे ताते नाम ह्लादिनी
सेइ शक्ति द्वारे सुख आस्वादे आपनी
सुख रूप कृष्ण करे सुख आस्वादन
भक्त गणे सुख दिते ह्लादिनी कारन
ह्लादिनी सार अंश तार प्रेम नाम
आनंद चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान
प्रेमेर परम सार महाभाव जानी
सेइ महाभाव रूप राधा ठकुरानी
महाभाव चिंतामणि राधारस्वरूप
ललितादि सखी तार काय व्यूह रूप

भावार्थ यह कि श्रीकृष्ण को आनंद देने से ही उस शक्ति का नाम ह्लादिनी-शक्ति है। इसी शक्ति के द्वार पर ब्रह्म श्रीकृष्ण सुख का अनुभव करते हैं। यही शक्ति भक्तों को सुख देने में समर्थ है। ह्लादिनी-शक्ति के भी सार तत्व का नाम प्रेम है, जो कि आनन्द-चिन्मयरसयुक्त है। प्रेम के भी परम सार को महाभाव कहते हैं, वही महाभाव रूपी प्रेमरस ही राधा ठकुरानी

हैं। महाभाव चिंतामणि रूपी, राधा का स्वरूप है, एवं ललितादिक नित्यसखियाँ उनकी कायव्यूह रूप हैं। इसके अतिरिक्त-स्कंद-पुराण कहता है :—

आत्मातु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ
आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढ-वेदिभिः

अर्थात् ब्रह्म श्रीकृष्ण की आत्मा ही राधिका है। उन्हीं में रमण करने के कारण श्रीकृष्ण का नाम आत्माराम बताया गया है। अतएव भागवत में भी आया है 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' तात्पर्य यह कि राधिका, ब्रह्म श्रीकृष्ण की आत्मास्वरूपा हैं। अन्य पुराणों में भी वेदव्यास ने लिखा है:—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोस्मान्न संस्पृशेत्।

अर्थात् यमुना जी द्वारिकास्थ रानियों से कहती हैं कि राधिका निश्चित रूप से श्रीकृष्ण की आत्मा हैं, क्योंकि उन्हीं की दासता के प्रभाव से उनके दर्शन मात्र से श्रीकृष्ण का दर्शन होता है। हम सब ब्रज गोपियों को श्रीकृष्णका बिरह स्पर्श तक नहीं कर पाता।

अब आइये उपनिषदों की उक्ति से विचार करें।

तस्यशक्तयस्त्वनेकधा ह्लादिनीसंधिनीज्ञानेच्छाक्रियाद्यावहुविधाशक्तयः, तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमांतरंगभूता राधा कृष्णेन आराध्यते इति कृष्णं समाराधय सदेति राधिका गान्धर्वेति व्यपदिश्यते इत्यस्या एव कायव्यूहरूपगोप्यो महिष्यः श्रीश्चेति।

येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैकःक्रीडनार्थं द्विधाभूत्, राधावै हरेःसर्वेश्वरी सर्वविद्यासनातनी कृष्ण-प्राणाधिदेवी चेतिविविक्तेवेदास्तु-वन्ति यस्या गतिं ब्रह्मभागा वदन्ति महिमास्याः स्वायुर्मानेनापि कालेन वक्तुं न चोत्सहे, सैव यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितं परमं धामेति ।

भावार्थ चैतन्य चरितामृत की पूर्व उक्ति के ही अनुरूप है। विशेष रूप से वेद कहता है कि राधा कृष्ण दोनों ही एक हैं, केवल लीला के हेतु ही दो रूप धारण कर लिये हैं। मै किसी भी आयु में उनकी महिमा का वर्णन नहीं कर सकता, वे जिस पर प्रसन्न हो जायँ उसी को उनका लोक मिलता है। वे श्रीकृष्ण की आराध्य देवी हैं। वे सब की स्वामिनी हैं। वे क्या हैं ? क्या नहीं हैं ? यह तो वेद भी नहीं जान पाता, केवल एकांत में स्तुति मात्र करता है। आगे चल कर वेद परम अंतरङ्ग बात कहता है :—

"एतामविज्ञाय यः कृष्णमाराधयितुमिच्छति स मूढ़तमो मूढतमश्च

अर्थात् श्री राधिका के बिना जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है वह अत्यन्त मूर्ख है। अत्यन्त मूर्ख है।

अब आप यह समझ गये होंगे कि ईश्वर है, तथा वह साकार एवं निराकार दोनों है। जीवों पर अकारण कृपा करने के हेतु ही अवतार लेता है। उसके समस्त अवतारों में परम मधुरअवतार श्रीकृष्णावतार है। एवं राधिका जी उन्हीं श्रीकृष्ण की अपर स्वरूपशक्तिभूता हैं। अतएव राधाकृष्ण प्राप्ति ही चरम लक्ष्य सिद्ध हुआ।

अब यह विचार करना है कि जीव अनादि काल से राधाकृष्ण के नित्य कैंकर्य को भूल कर नश्वर सांसारिक विषयों की ओर ही उन्मुख है। वह किस प्रकार संसार से विमुख होकर भगवान् की ओर उन्मुख हो सकता है? अतएव सर्वप्रथम हम संसार के ही स्वरूप पर विचार करें। क्योंकि जब तक संसार के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान न होगा, तब तक सांसारिक विषयों से मन की निवृत्ति भी न होगी। एवं उसके बिना भगवत्तत्व-ज्ञान एवं उसमें प्रवृत्ति भी न होगी।

संसार का स्वरूप

"संसरति इति संसार:" "गच्छतीति जगत्"

अर्थात् जो सदा चलता रहता है, उसे संसार कहते हैं। वस्तुतस्तु संसार का स्वरूप अविचार (अज्ञान) ही है। जिसका कारण भगवद्विमुखता है। इसी बात को तुलसीदास ने विनय-पत्रिका में बहुत ही सुन्दर ढंग से लिखा है :—

जिव जबते हरि ते बिलगान्यो, तबते देह गेह निज मान्यो।
मायावश स्वरूप बिसरायो, तेहि भ्रम ते दारुण दुख पायो।

यह संसार सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण से युक्त है, जो कि हमारे तथा भगवान् के मध्य में अन्तराय बना हुआ है। इस त्रिगुणमयीमायारूपी संसार के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है:—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।

अर्थात् मेरी यह दैवी त्रिगुणमयी माया अत्यन्त ही दुस्तर है, जो मेरी ही शरण में आता है वही इस माया को पार कर सकता है। तुलसी के शब्दों में:—

"हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं।"

सारांश यह निकला कि हमें अपने लक्ष्य से च्युत करने वाली त्रिगुणात्मिका माया ही है, तथा उसका एकमात्र उपाय भी

भगवान् की शरणागति ही है। किन्तु अब यहां गंभीर विचार करना है, वह यह कि ऐसी परिस्थिति में जब कि, अनादि काल के अनवरत अभ्यास से मायिक विषयों की ओर हम लोगों की प्रवृत्ति इतनी बद्धमूल हो चुकी है, तब भगवान् की ओर किस प्रकार चलें। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि :—

"भगबान् सत्य है, संसार मिथ्या है"—यह जानते, पढ़ते, सुनते हुये भी आज तक भगवद्विषय की ओर उन्मुख न हो सके। यदि आप कहें कि सिद्धान्त तो यह है कि जब मनुष्य किसी भी काय में प्रवृत्त होता है, तब उसमें अपना हित ही समझता है। यदि किसी भी प्रकार वह यह समझ लेता है कि अमुक कार्य में अत्यधिक हित है, तब स्वभावतः ही वर्तमान लक्ष्य को छोड़ कर अत्यधिक हित वाले लक्ष्य में प्रवृत्त हो जाता है। फिर जब यह प्रतीत हो जाय कि वर्तमान कार्य में अत्यधिक हानि है एवं अमुक कार्य में अत्यधिक लाभ है, तब भला अत्यधिक हानि वाले कार्य से निवृत्त एव अत्यधिक लाभ वाले कार्य में क्यों न प्रवृत्त होगा ? लोक में भी देखा जाता है कि एक ग्रामीण, अशिक्षितकूपमण्डूकमूर्ख भी जब यह सुन लेता है कि मैं अभी जिस दूध को पीने जा रहा हूँ उसमें विष मिला है, तब वह किसी भी प्रकार दूध नहीं पीता। उससे यदि पूछा जाय कि 'क्यों जी, तुम दूध क्यों नहीं पीते?' 'क्या तुमने विष मिलाते हुये देखा है?' 'क्या तुम बिष पहिचानते हो?' 'तथा क्या तुमने बिष के मृत्यु-परिणाम का कभी अनुभव किया है?' तब

वह कहता है, कि नहीं, 'इन सब में एक भी नहीं हुआ है', किन्तु सुनने से इतना बोध हो गया है, कि बिष मारक होता है, तथा यह भी मैं स्वाभाविक रूप से जानता हूँ, कि मुझे मृत्यु प्रिय नहीं है, अतएव एक व्यक्ति से यह सुन लेने पर कि उस दूध में बिष मिला है, मैं नहीं पीना चाहता। इस उदाहरण के द्वारा तो बिलकुल स्पष्ट है कि बिना अनुभव के भी शब्द-श्रवणमात्र से तद्विषयक पूर्णबोध हो जाता है। एवं उपरोक्त उदाहरण के द्वारा अनर्थ से निवृत्ति हो जाती है। दूसरी ओर देखिये कि जिस हिरण को प्यास लगी होती है वह रेगिस्तानों में उड़ते हुये बालू के कणों को सूर्य की किरणों से चमकती हुई देख कर एवं वास्तव में ही जल समझ कर अनवरत दौड़ता है, तथा बारम्बार जल के मिथ्यात्व का अनुभव करता हुआ भी प्यास के कारण उस मिथ्यात्व से कभी निवृत्त नहीं होता। फिर जहाँ वास्तव में ही पग पग पर प्यास बुझाने के हेतु जल मिले, भला कौन मृग उसके हेतु प्रवृत्त न होगा? अर्थात् निष्कर्ष यह कि 'समझ लेने से ही ग्रामीण मूर्ख एवं हिरण की भांति अनुभव के बिना भी अनर्थ से निवृत्ति एवं सुखविषयक कार्यों की ओर प्रवृत्ति दृढ़ता पूर्वक हो जाती है'। यह सर्व साधारण के अनुभव की बात है। इसी विषय को दृष्टिकोण में रखते हुये तुलसीदास कहते हैं :—

जाने बिनु न होय परतीती, बिनु परतीति होय नहिं प्रीती।

किंतु यहां तो अत्यन्त ही विलक्षणता है। शुद्ध बुद्धि से थोड़ा सोचिये तो कि संसार दुःखमय है, यह अनादि काल से

हम लोग सुन रहे हैं, पढ़ रहे हैं, देख रहे हैं, तथा स्वयं प्रतिक्षण इस विष का कटु अनुभव भी कर रहे हैं, फिर भी इस दुःखमय संसार से निवृत्ति नहीं हो रही है। क्या ही बिचित्र बात है। हमारा जानना है कैसा ? जो अनुभव युक्त होने पर भी हमें यह बिश्वास नहीं करा पाता कि 'संसार दुःखमय है। बहाँ भूल कर प्रवृत्त मत होना'। जब प्रतिक्षण अनुभव होते हुये भी हम संसारिक-मायिक बिषयों से निवृत्त नहीं हो सकते, तब यही कैसे संभव है कि भगवद्विषय सुनने मात्र से उसमें प्रवृत्त हो जायेंगे। बस यही तो एक समस्या है कि हम अनेकानेक वेद, शास्त्र, पुराणाध्ययनाध्यापन तथा अनेकानेक संतों के उपदेशादि सुन कर भी जहाँ के तहाँ ही खड़े रहते हैं। मैंने एक भंगेड़ियों का कथानक सुना था। कई भंगेड़ी भांग पी पी कर भांग के मद में प्रमत्त हुये बिचार करने लगे, तथा कहने लगे। कि 'अरे यारो ! चलो प्रयाग में द्वादशबर्षीय कुम्भ पर्व है, स्नान कर आवें। उन भंगेड़ियों में से एक ने कहा कि यह सामने नाव खड़ी है, इसी के द्वारा हम लोग प्रयाग चलें। बस फिर क्या था, मथुरा के भंगेड़ी नाव पर बैठ लिये, एवं वे सभी भंगेड़ी बारी बारी से सारी रात नाव को खेते रहे। सवेरा होते ही वे एक दूसरे से कहने लगे 'प्रयाग तो आ गया। किन्तु प्रयाग के घाट मथुरा के घाट के ही समान हैं, तथा अन्य मकान भी मथुरा के ही सदृश हैं। इतने ही में कुछ परिचित व्यक्ति उसी घाट पर स्नान करने आगये। उन्होंने भंगेड़ियों की

बात सुन कर कहा, 'अरे गधो ! यह प्रयाग नहीं है, यह तो मथुरा है' । किन्तु भँगेड़ी लोग यह बात कैसे मानते जब कि सारी रात नाव खेते खेते उनकी देह का कचूमर निकल चुका था । वे परिश्रम का प्रमाण देते हुये कहने लगे कि गधे तुम हो, हम लोग नहीं हैं'। इस पर उन परिचित व्यक्तियों ने कहा कि अरे भँगेड़ियो ! तुम एक बात यह तो बतावो कि जिस नाव को तुमने सारी रात खेया है, वह नाव बंधी है, अथवा खुली ? तुम चाहे हजारों वर्ष खेते रहो जब नाव ही बंधी है तब तुम मथुरा से एक पग भी आगे किस प्रकार जा सकते हो ? फिर विशेषता यह है कि नाव लकड़ी की है, एवं बंधन लोहे का है। जब भंगेड़ियों ने देखा कि वास्तव में ही नाव बंधी है, तब उन्हें वास्तव में अपनी मूर्खता का ज्ञान हुआ । ठीक इसी प्रकार संसार में दृढ़ता पूर्वक अनादिकाल के अभ्यास से मन बुद्धि को बांध कर भगवद्विषय सुनने, पढ़ने एवं इधर उधर महात्माओं के पास चक्कर लगाने, तथा दाम्भिक साधना करने से होता ही क्या है ? लाभ होने के बजाय यह हानि और हो जाती है कि हम बुद्धिवाद में पड़ कर महापुरुषों की निन्दायें करने लगते हैं, तथा उन्हीं भंगेड़ियों की तरह यह मिथ्याभिमान भी भर जाता है कि मैं बहुत आगे बढ़ गया। भगवान् तो अब बस बिल्कुल निकट हैं, जब कि वास्तविकता यह है कि मथुरा रूपी मायिकविषय से किञ्चित् मात्र दूर नहीं जा सका ।

अच्छा सुनिये, अभी भगवद्विषय का स्पर्श मत कीजिये। सर्व

प्रथम संसार की ही अन्तरङ्गता को समझिये। भंगेड़ियों को जब मालूम हो गया था कि मेरी नाव बँधी है तब सब को बोध हो गया। उसी प्रकार सर्व प्रथम हमारी मन एवं बुद्धि संसार में बँधी है यह भली भांति समझना चाहिये। अनुभवयुक्त होने के कारण यह समझना अत्यन्त ही सुगम है।

जहाँ तक तीन गुण हैं, वहाँ तक माया है। अथवा जहाँ तक इन्द्रिय, मन, आदि की गति है, वह सब माया है। तुलसी के शब्दों में:—

"गो गोचर जहं लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई।"

इस वर्तमान मृत्यु लोक के सुखों के विषय में तो इतना ही विचार करना है, कि वे सभी सुख सीमित एवं परिणाम में दुःख प्रद हैं। जन्म में, मृत्यु में, बुढ़ापे में, दैहिक रोगों में, मानसिक वासनाओं में, काल, कर्म, स्वभाव, के बंधनों के वशीभूत होने के कारण तज्जन्य दुःखों में दुःख ही दुःख है। जिनका वर्णन उतने अच्छे ढंग से शब्दों में नहीं किया जा सकता, जितने अच्छे ढंग से कि प्रत्येक व्यक्ति निष्पक्ष हो कर सोच सकता है, क्योंकि यह सबके अनुभव का विषय है।

किसी भी सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के पूर्व तन्निमित्त प्रयत्नों में कष्ट, तथा उसकी प्राप्ति हो जाने पर उसके संरक्षण एवं उसके नष्ट हो जाने के भय में कष्ट, तथा उसके नष्ट हो जाने पर पुनः तद् प्राप्तिकामना में कष्ट ही कष्ट प्राप्त होता है। यह बात धन, पुत्र, स्त्री, आदि समस्त सांसारिक विषयों में समझ लेना चाहिये।

धन, पुत्र, स्त्री, प्रतिष्ठा, आदि के अभाव में बहुधा जीव सहसा कह उठता है कि 'संसार मिथ्या है'। अल्पज्ञ समझते हैं कि अरे यह तो संसार के स्वरूप को समझ गया, अर्थात् 'यह तो संसार से विरक्त हो गया' 'बड़ा ज्ञानी बन गया', इत्यादि। किन्तु अभी वह धोखे में है। क्योंकि संसार के अभाव का स्वरूप समझा है, संसार का स्वरूप तो समझा नहीं अर्थात् वह तो धन, पुत्रादि, के अभाव में संसार की भयानकता का अनुभव करते हुये विरक्त बन रहा है। उसे जैसे ही धन पुत्रादि रूप संसार प्राप्त हो जायगा, पुनः पूर्व की भांति उसी में खो जायगा। ठीक भी है, क्योंकि उसे संसार के अभाव के स्वरूप से ही घृणा थी, जब संसार ही मिल गया तब वैराग्य की क्या आवश्यकता? तुलसी के शब्दों में :—

"नारि मुई गृह संपति नासी मूंड मुंडाय भये संन्यासी।"

आजकल अधिकांश बाबालोग धन, पुत्र, स्त्री, प्रतिष्ठादि के अभाव होते ही 'संसार मिथ्या है', 'संसार मिथ्या है', का नारा लगाते हुये स्थूल संसार को छोड़ कर वासना के विराट्-संसार में चक्कर लगा रहे हैं, अतएव उपरोक्त प्रकार का संसार के स्वरूप का बोध घातक है। संसार के स्वरूप के बोध का अभिप्राय तो यह है 'संसार के वास्तविक स्वरूप धन, पुत्र, प्रतिष्ठादि के रहते हुये उनमें दुःख ही दुःख है' ऐसा समझ कर उससे घृणा हो जाना। किंतु यह बात भी कुछ लोग जानते हैं, तथापि वे भी संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ कर भी संसार से

विरक्त नहीं हो पाते। उसमें कोई कारण अवश्य होना चाहिये।' संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ कर भी जिनका मन संसार से विरक्त नहीं होता उनके लिये एक राम-बाण औषधि है। वह यह कि उन्हें उपरोक्त संसार के मिथ्यात्व का बार बार चिंतन करना चाहिये। बार बार चिंतन करने से विरक्ति में दृढ़ता आती है। संसार में ही देखिये कि एक व्यक्ति ने एक व्यक्ति से कह किया कि हम तुम्हें देख लेंगे। (तम्हारे बुरे दिन आ गये हैं, सावधान हो ज़ावो।) भला बताइये! यह कौनसी बड़ी या आश्चर्यजनक बात थी? किन्तु शब्द सुनते ही बार बार चिंतन कर कर के इतनी बद्धमूल शत्रुता हो गई कि एक दूसरे को मार डालने पर आ बीती।

आधुनिक विवेकहीन युवक, युवतियों का उदाहरण और भी महत्वपूर्ण है। एक युवती परिहास में ही एक युवक के नाम पत्र लिख देती है कि 'मैं तुमसे प्रेम करती हूँ'। बस फिर क्या है! देखिये चिंतन का ढेर! भावनाओं का इतना विशाल पुलाव बंध जाता है कि वह युवक सदा यही वाक्य बोलता एवं सोचता है कि हम दोनों साथ ही मरेंगे और साथ ही जियेंगे। बिचार कीजिये, कि कितना कृत्रिम प्रेम का स्वांग है उन अविवेकियों का सिद्धान्त। वह बद्धमूल प्रेम, एक क्षण में ही समाप्त भी हो जाता है। जैसे किसी दूती ने झूठ मूठ को ही एक जाल रच दिया, जिस जाल में उसने केवल इतना ही किया कि उस युवती से एक दूसरे युवक के नाम एक झूठा मूठा प्रेम पत्र

लिख दिया, जिस पत्र में उस युवती ने लिखा 'मैं तो तुम्हीं से प्रेम करती हूँ, पूर्व युवक को तो बुद्धू बना रक्खा है।' इस पत्र को पढ़ते ही वह युवक 'साथ ही जियेंगे और साथ ही मरेंगे' की फ़िलॉसफ़ी बदल कर एक नया सिद्धान्त स्थापित करता है, वह यह कि 'अब हम इस जीवन में उसका मुंह तक न देखेंगे', तथा हो सका तो उसका अनिष्ट भी करेंगे' । यह बातें आधुनिक महान् से महान् विद्वानों से भी अपरिचित नहीं हैं । हाँ, तो कहना यह है कि किसी विषय में बार बार सुख का चिंतन करने से ही उसमें लगाव हो जाता है, एवं बार बार दुःख का चिंतन करने से ही घृणा हो जाती है, अतएव हमें संसार के वास्तविक रुप में ही दुःख का बार बार चिंतन करना होगा । तथा वह घृणा दृढ़ करनी होगी । जब तक वह वैराग्य दृढ़ न होगा तब तक हम भगवद्विषय में प्रवृत्त ही कैसे होंगे । मुझे तो 'सूर' की यह वाणी बहुत ही अच्छी लगती है ।

गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं :—

"ऊधव जी ! मन न भये दस बीस,
एक हुतो सो गयो श्याम संग, को अवराधे ईश"

अर्थात् हे उद्धव ! एक ही मन है, वह तो श्याम सुन्दर के पास चला गया है, अब तुम्हीं बताओ कि किस मन से तुम्हारे ब्रह्म की उपासना करूं । बस इस 'सूर' की वाणी में एक शब्द परिवर्तन करने की आवश्यकता है । वह शब्द यह है 'श्याम' के स्थान पर 'जगत्' । अर्थात् :—

"एक हुतो सो गयो जगत संग, को अवराधै ईश"। अर्थात् एक ही मन है, वह संसार में पूर्णतया आसक्त है, अब दूसरा मन कहाँ से लायें, जिसे भगवद्विषय में लगा दें। भावार्थ यह कि जब तक संसार में मन बुद्धि का लगाव रहेगा, तब तक भगवद्विषय सुनना आदि विशेष लाभकर सिद्ध नहीं हो सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् में मन लगाने से संसार से तो मन अपने आप ही पृथक् हो जायगा, साथ ही यह भी कहते हैं कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है, किंतु उन्हें कदाचित् पूर्व अवस्था का स्मरण वर्तमान काल में नहीं है, जिस अवस्था में उन्होंने सांसारिक विषयों में निरंतर दुःख चिन्तन करके ही संसार से विरक्ति लाभ प्राप्त किया था। उसी के परिणाम स्वरूप आज उनका यह स्वर्ण दिवस आया है, कि उनका मन भगवान् में लग रहा है। यह आगे वाली अवस्था की बात है जब तक मन बुद्धि यह निश्चय न कर ले कि संसार में दुःख ही दुःख है, एवं जब तक उसका मन संसार से अवकाश न प्राप्त कर ले तब तक भगवद्विषय में प्रवृत्ति हो ही कैसे सकती है? किंतु मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य प्रतिक्षण यही चिंतन करने लगे कि संसार मिथ्या है। मेरा अभिप्राय यह है कि संसार की नश्वरता के चिंतन के साथ ही साथ जितने क्षण को मन विरक्त हो सके, उतने क्षण मन को भगवद्विषय में भी लगाना चाहिये। इस प्रकार विवेकपूर्वक संसार के विषयों से मन को हटाना, एवं भगवद्विषय में लगाना ये दोनों ही अभ्यास आवश्यक हैं, क्योंकि ऐसा संभव

नहीं है कि संसार से मन को हटाकर एवं भगवान् में भी न लगाकर कोई किसी ऐसी अवस्था पर पहुँच जाना चाहे, जहाँ मन को कुछ भी न करना पड़े। सिद्धान्त यह है कि संसार का कोई भी जीव एक क्षण को भी अकर्मा नहीं रह सकता। यदि भगवद्विषय में मन को नहीं लगायेंगे तो संसार से हटाया हुआ भी हमारा मन पुनः संसार में चला जायगा। अतएव गीताकार ने अभ्यास एवं वैराग्य दोनों की ही प्रधानता दी है। इस मृत्युलोक रूपी ससार से आगे चलकर स्वर्गादिलोक रूपी संसार मिलता है वहाँ भी यही रोग है। कहाँ तक कहें! ब्रह्मलोक तक तो माया का आधिपत्य है! केवल भगवद्धाम ही ऐसा है जहाँ इस माया की दाल नहीं गलती।

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'

तथा

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!
मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" (गीता)

अतएव तत्व यह निकला कि भगवान् को छोड़कर शेष सब कुछ माया है। उस माया-रूपी संसार के विषयों में प्रतिक्षण दुःख का चिंतन करते हुये एवं विवेक-पूर्वक मन को हटाते हुए भगवान् में ही मन को लगाना चाहिये।

उपरोक्त रीति से संसार के स्वरूप को समझ लेने पर एवं बार बार चिंतन से दृढ़ कर लेने पर जीव को ज्ञानपूर्ण वैराग्य

होता है, जिससे भगवद्विषय की जिज्ञासा होती है। बस, इसी जिज्ञासा का प्रथम सोपान ही जीवन का परम मंगलमय मुहूर्त है। यह मंगलमय मुहूर्त किसी किसी को संस्कार से, किसी किसी को महापुरुषों के संग से, तथा बहुधा पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। इस मंगलमय मुहूर्त के पश्चात् फिर यह प्रश्न उठता है कि अच्छा भाई! अब तो संसार नहीं भाता, न तो उधर जाने को जी ही चाहता है, पर भगवत्प्राप्ति की साधना के विषय में भी तो हम कुछ नहीं जानते फिर क्या करें? विरक्त की गाड़ी फिर रुक गई। अधिकांश जीव तो यहीं से गाड़ी लौटा कर फिर संसार में चले जाते हैं, क्योंकि यह कहावत तो व्यापक है ही कि यदि भगवान् न मिले तो कम से कम संसार ही मिले। कहीं ऐसा न हो कि "दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम" इतना किया कराया फिर सब चौपट हो गया। संसार में चार प्रकार के जीव होते हैं। एक तो वे जो धन-पुत्रादि संपत्तियों के होते हुये भी भगवद्विषय की ओर वास्तव में ही बढ़ते हुये देखे जाते हैं। दूसरे वे जो धन-पुत्रादि संपत्तियों के ही कारण इतने उन्मत्त हो जाते हैं कि भगवद्विषय सुनने से भी घृणा करते हैं। तीसरे वे जो धन-पुत्रादि संपत्तियों के अभाव में संसार से निराश हो कर भगवद्विषय की ओर चलते हैं। चौथे वे जो धन पुत्रादि संपत्तियों के अभाव में भी भगवद्विषय की ओर नहीं चलते, वरन् संसार का ही चिन्तन करते हैं। इन चार प्रकार की स्थितियों का कारण इस प्रकार है :—

(१) जो लोग धन-पुत्रादि संपत्तियों के मद के होते हुये भी, उनमें असारता का वास्तविक ज्ञान करके, भगवान् की ओर उन्मुख होते हैं, वे योगभ्रष्ट संस्कारी ही होते हैं। क्योंकि सिर पर बोझ रख कर समुद्र में तैरना साधारण पुरुषार्थ की बात नहीं है।

(२) दूसरे जो धन पुत्रादि के रहते हुये भगवद्विषय की ओर बिलकुल ही नहीं चलते, वे उन्हीं धनादि के मद में अपना विवेक खो बैठते हैं। जैसे महान् से महान् बुद्धिमान् भी शराब के नशे में अपनी बुद्धि खो बैठता है। यह स्वाभाविक सी बात है।

(३) तीसरे वे जो धनादि के अभाव में भगवद्विषय की ओर चलते हुए देखे जाते हैं। ऐसे लोग दो प्रकार के होते हैं। (१) एक तो वे जो संसार के दुःखों के कारण बार बार संसार की असारता का चिंतन करके संसार के वास्तविक स्वरूप से भी घृणा कर लेते हैं, ऐसे आर्त जीव परम भाग्यशाली हैं। (२) दूसरे वे जो धनादि के अभाव में भी धनादि ही की प्राप्ति के निमित्त अपने को असमर्थ पाते हुए भगवान् का अवलंबन ग्रहण करते हैं, उन्हें सकाम भक्त कहते हैं। ये लोग आगे चल कर सत्संग के द्वारा निष्काम हो जाते हैं। अर्थात् संसार के वास्तविक-स्वरूप को समझ लेते हैं, जिससे फिर धनादि की इच्छा का परित्याग करके एक मात्र भगवत्प्राप्ति में जुट जाते हैं।

(४) चौथे वे हैं जो धन, पुत्रादि के अभाव में भी संसार की ही ओर प्रवृत्त होते हैं। वे लोग बार बार धन, पुत्रादि की प्राप्ति के निमित्त ही घोर पुरुषार्थ करते हैं, अतः भगवान् को कोसते हैं "भगवान् ने मेरे ऊपर कोप कर रक्खा है। वह अन्यायी है!" इत्यादि बक बक करते हुए भगवान् से विमुख हो जाते हैं। ऐसे लोग परम दुर्भाग्यशाली हैं। क्योंकि धन-पुत्रादि के नशे के न होने पर भी जब उन्हें चेतना नहीं आ रही है, तब उनके मिलने पर प्रमत्तावस्था में क्या होगा? ऐसे लोग भी कम होते हैं। इसमें घोर कुसंग एवं घोरकुसंस्कार कारण हैं।

प्रायः सिद्धान्त यही है कि धन पुत्रादि के रहते हुए मद के कारण भगवद्विषय की ओर प्रवृत्ति होना दुःसम्भव है, तथा धन-पुत्रादि के मद के अभाव में भगवद्विषय की ओर चलना स्वाभाविक सा है। अतएव भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

"तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्"

देखिये आप लोगों ने आर्त्त एवं अर्थार्थी व्यक्तियों को भक्त बनते हुये पढ़ा एवं सुना अथवा देखा भी होगा। किन्तु यह पक्का नियम नहीं है, जैसा कि मैंने ऊपर समझाया है। अतएव गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।
चतुर्विधो भजन्ते मां जनाःसुकृतिनोऽर्जुन"

अर्थात् भाग्यशाली आर्त्त आदि ही भगवान् की ओर चलते हैं।

उसमें खास बात यह है कि जब हम आर्त्त, अर्थार्थी, आदि बन कर भगवान् की ओर चलते हैं, तब उपासना ठीक नही बन पाती। उसमें एक कारण तो यह है कि जब तक हमारी इच्छायें पूर्ण होती जाती हैं, तब तक तो हम उपासक बने रहते हैं, किन्तु जब ही इच्छाओं के विरुद्ध फल मिलने लगता है, तभी हम नास्तिक से बन जाते हैं। दूसरा कारण यह है कि हम यह भी नहीं समझते कि हमारी प्रेम हीन याचना से भगवान् हमारे भाग्य के बिधान में लाल स्याही कैसे चला देंगे। अर्थात् हमारे संस्कारों को ऐसी अवस्था में कैसे काट सकते हैं। तीसरा कारण यह भी है कि हम यह भी नहीं समझते कि यदि भगवान् हमारे भाग्य विधान को काट भी दें तब भी संसार के मद-बर्धक सुख तो हमें भगवान् से और भी दूर कर देंगे। चौथा कारण यह है कि हम यह नहीं समझते कि उन सांसारिक सुखों के प्राप्त होने पर हमारी वासनायें और भी बढ़ जायेंगी, जिसकी कि कोई सीमा नहीं है। हम सदा ही मांगा करेंगे। पाँचवां कारण यह है कि हम यह भी नहीं समझते कि यदि भगवान् हमारी प्रेमहीन पुकार सुन ही लेता है तो हम उससे उसी को क्यों न माँगें। अभिप्राय यह है कि ऐसा सकाम जीव यदि महापुरुष के सम्पर्क में नहीं आता तो वह भी सुकृती नहीं है, क्योंकि वह फिर संसार में लौट जाता है। गज स्नान (जैसे हाथी नहा कर तत्क्षण ही धूल छोड़ लिया करता है) की भांति ही उसकी प्रवृत्ति रहती है।

अतएव वास्तव में तो जो धनादि के रहते हुये या न रहते हुये ज्ञान पूर्वक वासनारूप से ही उनका परित्याग कर देते हैं वे ही सुकृती (भाग्यशाली) हैं, क्योंकि वे फिर संसार की ओर उन्मुख नहीं हो सकते।

यदि किसी भी प्रकार विरक्त-जीव महापुरुष के पास पहुँच जाता है, तब तो सब ठीक हो जाता है, अन्यथा वह विरक्ति भी आसक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। कल्पना कीजिये आप विरक्त हो गये, किंतु भगवत्-साधना-तत्वज्ञान के बिना आप भगवद्विषय में साधना कैसे करेंगे? यदि आप कहें कि हम शास्त्रों, वेदों का अध्ययन करके तदनुसार साधना कर सकते हैं, हमें महापुरुष की आवश्यकता नहीं, किन्तु ऐसा संभव नहीं। क्योंकि शास्त्रों, वेदों का तत्त्व विश्व का कोई भी शाब्दिक विद्वान्, अनुभवीमहापुरुषों के बिना अनंतानंत युगों में भी नहीं समझ सकता। वह जितना ही शास्त्रों, वेदों को पढ़ेगा उतना ही उलझेगा। तुलसीदास ने क्या ही सुन्दर कहा है :—

"श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई, छूट न अधिक अधिक उरझाई।"

"श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्
शास्त्रस्य तत्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्था।:"

अर्थात् वेदों, शास्त्रों, पुराणों एवं श्रुतियों में अनेक प्रकार के मत मिलते हैं, अतएव किसी अनुभवी महापुरुष के ही द्वारा उसका

अनुगामी बन कर ही चलना चाहिये। तुलसीदास जो कहते हैं "सो बिनु सन्त न काहू पाई," गीता भी कहती है :—

'उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः'

अतएव

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'

अर्थात् सर्व प्रथम विरक्त-श्रद्धालु-जिज्ञासु जीव को महापुरुष की शरण में जाना होगा। उसकी निष्कपट भाव से सेवा करनी होगी। फिर उसे सात्विक प्रश्नों द्वारा भगवद्विषय समझना होगा। तब ही महापुरुष के द्वारा उसे साधना-विषयक ज्ञान हो सकेगा।

दूसरी बात यह भी है कि महापुरुष के बिना यह भी निर्णय नहीं किया जा सकता कि हम किस मार्ग के अधिकारी हैं।

तीसरी बात यह भी है कि साधना करते समय साधक के व्यक्तिगत प्रश्नों का समाधान तथा आगंतुक विघ्नों का निवारण कैसे होगा? तात्पर्य यह है कि साधक तो दिन में दस बार तीनों गुणों के चक्कर में आकर विविध प्रकार के नशों में हो जाता है। जब तक उस बेहोश साधक को, होश में रहने वाला महापुरुष सदा जगाता न रहे, तब तक वह बेहोश साधक अपनी बेहोशी का निर्णय कैसे करे।

चौथी बात यह है कि अंतःकरण शुद्धि के बाद भी प्रेम-दीक्षा-दान कौन करेगा?

मैं आपको एक औषधालय में ले चलता हूँ। मान लीजिये, आप रोगी हैं। अपने आप अपने रोग का निदान कैसे करेंगे?

यदि यह भी संभव हो जाय और निदान आप कर भी लें तो करोड़ों औषधियों में आप कौन सी शीशी की औषधि ग्रहण करें ? आपको तो इसकी योग्यता है नहीं । यदि यह भी संभव हो जाय, तो आप उस औषधि का अनुपान कैसे जानेंगे ? यदि ऐसा भी हो जाय, तब भी प्रति दिन की आपकी रुग्णावस्था के अनुसार औषधि का परिवर्तन कौन करेगा ? यदि यह भी संभव हो जाय तो कुपथ्य का परिज्ञान एवं उससे निवृत्ति कैसे होगी ? इत्यादि अनेक समस्यायें ऐसी ही हैं, जो बिना महापुरुष के हल नहीं हो सकतीं । अतएव तुलसीदास ने अपनी अनुपम रचना चातुरी में क्या ही सुन्दर रीति से इस विषय को स्पष्ट किया है :—

"नेम, धर्म, आचार, तप, योग, यज्ञ, जप, दान ।
भेषज पुनि कोटिन करिय, रुज न जाहिं हरियान ।।"

काकभुशुण्डी जी कहते हैं हे गरुड़ जी ! नियम, धर्म, आचार, तपस्या, योग, यज्ञ, दान आदि करोड़ों ही औषधियाँ क्यों न की जायँ, किंतु यह भव रोग महापुरुष के बिना नष्ट नहीं हो सकता' । नष्ट होने का उपाय तुलसीदास आगे चल कर कहते हैं :—

"राम कृपा नासहिं सब रोगा, जो येहि भांति बनै संजोगा ।
सद्गुरु वैद्य बचन विश्वासा, संयम यह न विषय की आसा ।
रघुपति भक्ति सजीवन मूरी, अनूपान श्रद्धा अति रूरी ।"
येहि विधि भलेहिं कुरोग नसाहीं, नाहिं तो कोटि यतन नहि जाहीं ।

तात्पर्य यह कि जब रामकृपा से ऐसा संयोग बन जाय, कि विरक्त-जिज्ञासु रोगी को महापुरुषरूपी वैद्य मिल जाय, एवं

वह भवरोगी उस सद्गुरु वैद्य पर विश्वास कर ले, तथा उसके आदेशानुसार चले। मोक्ष पर्यन्त के विषयों से बचा रहे। भगवद्-भक्ति रूप औषधि का सेवन करे। श्रद्धा का अनुपान भी ग्रहण करता रहे, तभी यह रोग निवृत्त हो सकता है। वस्तुतस्तु महापुरुष की प्राप्ति, एवं उसके प्रति श्रद्धापूर्वक दृढ़विश्वास हो जाने पर अन्य समस्त बातें तो स्वयं ही ठीक हो जाती हैं, किंतु विचारणीय यह है कि यदि सद्गुरुरूपी वैद्य के पास पहुँचने का वैराग्यरूपी विधान बन भी जाय तब भी भव रोग नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि मान लीजिये कि महापुरुष मिल गया, परन्तु वह महापुरुष भी तो अमायिक होने के कारण मायिक बुद्धि वालों की समझ में नहीं आ सकता। जब तक किसी भी प्रकार से महापुरुष समझ में न आ जायगा तब तक हम उसे वैद्य ही नहीं स्वीकार करेंगे, औषधि कराने की बात तो दूर रही। इसलिये आगे की समस्त बातें स्वतः रुक जायँगी।

यह तो तभी संभव हो सकता है जब विरक्त-जीव को महापुरुष मिले, एवं वह जीव, महापुरुष को समझ ले, तथा उस पर विश्वास कर ले। तब तो आगे सब ठीक हो जायगा। किंतु यह एक सबसे बड़ी जटिल समस्या है। पूर्व में तो संसार से वैराग्य होना ही एक बड़ी समस्या थी जो हल नहीं हो रही थी, यदि किसी प्रकार वह हल भी हो गई तो फिर महापुरुष को समझने की जटिल समस्या आन खड़ी हुई। यदि यही समस्या और उलझ जाय, तब फिर बिना किसी किंतु, परंतु, लेकिन,

मगर, चूँकि, के ही जीव सीधे अपने लक्ष्य पर पहुँच जायगा। आइये, इस समस्या को भी सुलझाने का प्रयत्न करें। हाँ, तो महा-पुरुष किसे कहना चाहिये? इस विषय में कुछ जिज्ञासु-भाव युक्त बुद्धि, कुछ शास्त्रों का अवलंबन, कुछ निज प्रत्यक्ष अनुभव का भी जोर लगा कर देखें, कदाचित् समस्या सुलझ ही जाय।

महापुरुष का लक्षण

गौराङ्ग महाप्रभु कहते हैं :—"जेइ कृष्ण तत्व वेत्ता सेइ गुरु हय" अर्थात् जिसने श्रीकृष्ण के अन्तरङ्ग तत्व को वास्तविक रूप से अनुभव कर लिया हो वही वास्तविक गुरु हो सकता है। शास्त्रों में तथा लोक में भी तीन शब्द सुनने पढ़ने में आते हैं। जिन्हें पुरुष, महापुरुष, परमपुरुष कहते हैं, तथा दूसरे शब्दों में जीवात्मा, महात्मा, एवं परमात्मा कहते हैं। महापुरुष की अनंत लक्षणों से युक्त परिभाषायें शास्त्रों में लिखी हैं, जिनका आंशिक वर्णन भी एक स्वतंत्र विशालग्रंथ का रूप धारण कर सकता है। मैं संक्षेप में कुछ प्रधान बातें बताऊंगा। वास्तव में महापुरुष वही है जिसने सर्वशक्तिमान् भगवान् को जान लिया हो, अथवा देख लिया हो, अथवा उनमें लीन हो गया हो।

"द्रष्टुं ज्ञातुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप"

किंतु यह निश्चय करना कि अमुक जीव भगवान् को जान लिया है, अथवा देख लिया है, अथवा उनमें लीन हो गया है। जीव की अल्पबुद्धि से सर्वथा असंभव है। जिस प्रकार एक अबोध बालक के हेतु एक प्रोफ़ेसर का निर्णय करना हास्यास्पद है, उसी प्रकार संसार के महान् बुद्धिमान्‌रूपी अबोधबालक के हेतु महापुरुषों का निर्णय करना भी उपहासजनक है। फिर

किया क्या जाय ? प्रत्यक्ष रूप से तो महापुरुष ही महापुरुष को जान सकता है, किंतु कुछ प्रत्यक्ष, कुछ अनुमान, कुछ शब्द प्रमाण के द्वारा अल्पज्ञभाग्यशाली जीव भी यत्किञ्चित् समझ सकता है, क्योंकि बिना समझे वेश्याओं की भांति अनंतानंत महापुरुषों के पास जाकर भी कुछ कमाने के बजाय गँवाना ही पल्ले पड़ता है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि महापुरुष के सम्पर्क से जिज्ञासु की सांसारिक विषयों से निवृत्ति एवं भगवद्विषयों की ओर प्रवृत्ति विशेष रूप से होती है, यह महापुरुष के वातावरण का स्वाभाविक प्रभाव है। उनके दर्शनादि एवं प्रधानतया सत्संग से अनर्थ की निवृत्ति एवं भगवद्विषय में विशेष रुचि होने लगती है। अतएव विरक्तजिज्ञासु उस महापुरुष के कुछ दिन के निरंतर सत्संग द्वारा यह समझ सकता है कि यह अवश्य महाशक्तिमान् है, जिसके प्रभाव से मेरा मन भगवद्विषय में विशेषरूप से लग रहा है। किंतु यह बात अवश्य है कि साधक जितनी मात्रा में श्रद्धालुअधिकारी होगा, उतनी ही मात्रा में उसे महापुरुष के संग का लाभ विशेष प्राप्त होगा। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ न कुछ लाभ तो सभी को होगा। यहां तक कि प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में न आते हुए भी उदासीन जीव को भी लाभ होगा, जो आगे चल कर प्रत्यक्ष हो जायगा।

अब अनुमान तथा शब्दप्रमाण के द्वारा कुछ जानकारी प्राप्त करना चाहिये। शास्त्रों में महापुरुषों का स्वभाव तीन प्रकार का माना गया है। बालवत्, उन्मत्तवत्, पिशाचवत्। अर्थात् महापुरुष

भोले बालक के समान, उन्माद रोगी के समान, एवं भूतग्रही के समान होता है। भोले बालक के समान उनका (महापुरुषों का) हृदय कोमल तथा सरल होता है। जिस प्रकार भोले बालक की कितनी ही निन्दा अथवा विरोध आदि क्यों न किया जाय, वह भोला बालक उन पर कुछ भी विचार नहीं करता, उसे स्वाभाविक रूप से सुख या दुःख महसूस नहीं होता।

तुलसी के शब्दों में :—"निन्दाअस्तुति उभय सम" गीता के शब्दों में "तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी" अर्थात् महापुरुष की कितनी ही निन्दा अथवा विरोध क्यों न किया जाय, उसे किञ्चित् भी दुःख नहीं होता। महाप्रभु जी ने कहा है :—"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना" अर्थात् सिद्धमहापुरुषों की तो बात ही क्या, साधक को भी तृण से भी अधिक नम्र एवं वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिये। अतएव प्रथम प्रकृति बालक की बताई गई है। दूसरी प्रकृति उन्माद रोगी की बताई गई है। भागवत में महापुरुष का लक्षण बताते हुए भागवतकार कहते हैं :—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यतिलोकवाह्यः॥

(भा० ११—२—४०)

अर्थात् वह महापुरुष अपने इष्टदेव के नाम, गुण, लीलादिकों का संकीर्तन करता हुआ पिघले हुये हृदय से युक्त होकर कभी ज़ोरों से हंसता है, कभी रोता है, कभी चीखता है, कभी

जाता है तथा कभी उन्माद रोगी की भांति लोकातीत होकर नाचने लगता है। दूसरे स्थल पर भागवतकार फिर कहते हैं :—

बाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं, रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च, मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

(भा० ११—१४—२४)

अर्थात् अपने इष्ट के प्रेमरस में विभोर होकर महापुरुष की वाणी गद्गद् हो जाती है। (गला रुंध जाता है) हृदय पिघल जाता है। रोता रहता है। कभी हँसने लगता है, कभी लज्जा हीन होकर गाने लगता है, कभी नाचने लगता है। इस प्रकार के भावों से युक्त होकर महापुरुष समस्त भूतल को पवित्र करता है। वास्तव में उन्माद रोगी एवं भूतग्रही दोनों ही के लक्षण एक से होते हैं।

प्रेम के बाहर प्रकट आठों सात्विकभावों के द्वारा भी महापुरुषों का परिचय प्राप्त होता है। प्रेम सबंधीं आठ सात्विक भाव निम्न लिखित हैं :—

स्तंभः स्वेदोऽथरोमांचः स्वरभेदोऽथवेपथुः.
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः

अर्थात् (१) स्तंम्भ—(भगवान् के रूपध्यान में अपनी सुधि बुधि खोकर निश्चल हो जाना) (२) स्वेद—(पसीना निकलना) (३) रोमाञ्च—(रोंगटे खड़े हो जाना) (४) स्वर भेद (गद्गद् कंठयुक्त होने से स्वर बदल जाना) (५) बेपथु (शरीर कांपना) (६) वैवर्ण्य (आनंद अथवा वियोगावस्था में चेहरे पर रौनक़ या

फीकापन आजाना) (७) अश्रु (आनंद या वियोगावस्था में आंखों से आँसू निकलना) (८) प्रलय (जड़ वस्तु के समान मूर्छित होकर गिर पड़ना) ।

भगवान् के नाम, गुण, लीलादि, के श्रवण अथवा संकीर्तन अथवा स्वाभाविक रूप से भी इन आठों सात्विक भावों का उद्रेक महापुरुषों में होता रहता है। प्रेम छुपाये नहीं छुपता। यद्यपि साधारण प्रेमी, प्रेम का गोपन कर लेता है। किंतु विशेष प्रेम की मात्रा में वह बाहर छलक ही पड़ता है। बाहर छलके हुये प्रेम के लक्षणों को देख कर, तत्व ज्ञानी चतुर साधक अनुमान लगा लेता है। कि "पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्" अर्थात् इस महापुरुष रूपी पर्वत के हृदय में अवश्य ही आग लगी है क्योंकि छलकता हुआ वाह्यरूप से प्रकट सात्विक भावों का धुआँ दिखाई पड़ता है। लोक में भी यदि किसी की किसी से विशेष आसक्ति होती है, तो अपने प्रिय की चर्चा आदि के श्रवण कीर्तनादि से प्रेमी की आसक्ति बाहर छलक पड़ती है। जब सीमित आसक्ति में यह बात है तब दिव्य अनिर्वचनीय विशुद्धप्रेममाधुरी के विषय में बात ही क्या कही जाय। आप संसार में देखिये, किसी पतिव्रता विधवा के समक्ष उसके वियोगी पति का किञ्चित् भी वर्णन करने से विधवा की क्या अवस्था हो जाती है। यह एक प्रेम के प्रतिबिंब का भी प्रतिबिंब है। अतएव इन सात्विक भावों, एवं उन्माद रोगी, तथा भूतग्रही, के लक्षणों द्वारा प्रचुर मात्रा में प्रेमी महापुरुषों की जानकारी हो जाती है, किन्तु यह तभी हो सकता है,

जब कुछ काल तक उन महापुरुषों का संग किया जाय। दूर से तो बड़ा धोखा हो जाता है, क्योंकि संसार में बहुधा साधारण साधक, अथवा दम्भी तक को भी लोग महापुरुष समझ बैठते हैं, एवं इसी प्रकार कभी कभी जल्दीबाजी में महापुरुष को भी दम्भी समझ बैठते हैं। महापुरुषों का स्वभाव कुछ अटपटा होने के कारण कुछ काल तक स्वयं उनके संग के द्वारा ही कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है।

महापुरुष स्वाभाविक रूप से ही परोपकारी होता है, किंतु वह महापुरुष लौकिक उपकार नहीं करता। यदि कोई महापुरुष नामधारी किसी को धन-पुत्रादि देने का स्वाँग रचता है तब तो वह महापुरुष क्या, एक बुद्धिमान् पुरुष कहलाने का भी अधिकारी नहीं है, क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष भी जानता है कि संसार के सुख जीव को उन्मत्त बना कर गिरा देते हैं। अतएव महापुरुष, जीव को केवल भगवत्प्राप्ति ही की ओर ले जाता है, उसका यही एकमात्र परोपकार है। जब भगवान् ही स्वयं भागवत में कहते हैं:—

'तं भ्रंशयामि संपद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्'

अर्थात् मैं जिस पर कृपा करता हूँ, उसकी समस्त सांसारिक संपत्तियों को छीन लेता हूँ, ताकि वह उन मदों में उन्मत्त होकर मुझे भूल न जाय, तब भला उनके जन महापुरुष, उन सांसारिक मदवर्धकसुखों को क्योंकर देने लगे।

बहुधा भौतिक एवं दैविक सिद्धियों को प्राप्त-जनों के चक्कर में भी साधक पड़ जाते हैं। अतएव यह भी अवश्यंज्ञेय है कि महापुरुष भौतिक सिद्धियों से लेकर योग की महानतम सिद्धियों अणिमा, लघिमा, गरिमादिकों के चमत्कारों से दूर रहता है। उसे अपने सम्मान की इच्छा नहीं, तथा वह स्वयं भी स्वभावतः "तृण सम सिद्धि तीन गुन त्यागी" होता है। महापुरुष तो ब्रह्मा का पद, इन्द्र का पद, चक्रवर्ती सम्राट् का पद, रसातल का आधिपत्य, योग की महानतम सिद्धियां तथा मोक्ष तक नहीं चाहता। भागवत कहती है :—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यम्
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्
न योगसिद्धीरपुनर्भवंवा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् (भा० ११-१४-१४)

अतएव लोक को लघुसिद्धियों द्वारा आकर्षित करने वाले वञ्चक दंभियों से, जीव को सावधान रहना चाहिये। महापुरुषों को तो यहाँ तक देखा गया है, कि गुण्डों ने हरिदास को मार कर ही फेंक दिया था, किन्तु हरिदास ने किसी भी अवस्था में किसी भी प्रकार का चमत्कार नहीं दिखाया था। कारण यह है कि महापुरुष समुद्र के समान गंभीर एवं पर्वत के समान सहिष्णु होता है। वह किसी जीव का किसी भी प्रकार अहित नहीं चाहता, कोई भी जीव, उस महापुरुष के प्रति कितना ही अपराध क्यों न करे। जगाई-मधाई-उद्धार के प्रकरण में देखिये,

उन्हीं के द्वारा मार खाकर भी नित्यानन्द ने अपना समस्त पुण्य ही दे दिया। धन्य है ऐसे उदार कोमलहृदय वाले महापुरुषों को !!!

महापुरुष किसी भी जीव के अकल्याणार्थ क्रोध नहीं करता। अर्थात् वह किसी के अनिष्ट के हेतु शाप नहीं देता, न तो अन्तरङ्ग नित्य मंगल कामना होते हुए भी अनधिकारी जीव को आशीर्वाद ही देता है। महापुरुष तो यदि एक बार भी आशीर्वाद दे दे तो उसी क्षण जीव का परम कल्याण हो जाय। तात्पर्य यह कि महापुरुष सदा ही जीव के कल्याण के निमित्त विविध प्रकार के कर्मों को करता है। महापुरुषों के साधारण लक्षणों को अनेकानेक महापुरुषों ने निरूपित किया है। गीताकार लिखते हैं :—

तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति
शुभाशुभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः

(गीता १२ अध्याय)

अर्थात् जो निंदा एवं स्तुति में समान रहे, बकवादी न हो, जो कुछ मिल जाय उसी में संतुष्ट रहे, गृह आदि में आसक्त न हो, स्थिर बुद्धि वाला हो, जो सांसारिक ऐश्वर्यों के पाने पर न तो प्रसन्न होता हो, न तो उनके वियोग में दुखी होता हो, जो किसी से द्वेष न करता हो, तथा जो अपनी कोई इच्छा न रखता

हो, जो अच्छे बुरे दोनों ही कर्मों का परित्याग कर चुका हो, भगवान् कहते हैं कि ऐसा भक्तियुक्त महापुरुष मुझे अत्यंत प्रिय है।

किन्तु इन लक्षणों के विषय में निर्णय होना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि दम्भी जन भी अपने को महापुरुष सिद्ध करने के लिये उपरोक्त लक्षणों का नाटक कर सकते हैं। जैसे आपने अकारण ही दम्भी को डाटा। वह हँसने लगा, आपने समझा, वह क्रोधहीन महापुरुष है, किन्तु उसने हँसने का स्वाँग इसीलिये रचा था कि अल्पज्ञ उसके अन्तरङ्ग तत्व को न समझ सके। अतएव यह जानना साधारण जीव के लिये कठिन हो जाता है, कि अमुक व्यक्ति वास्तव में ही क्रोधहीन है, लोभहीन है, अथवा वाह्यरूप से ही बनावट कर रहा है। यह तो हुई साधारण बात। अब सुनिये विशेष बात, जहाँ कि बड़े बड़े बुद्धिमान् अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। जरूर कोई बात है—वह यह कि कुछ महापुरुष लोक-आदर्शी होते है एवं लोक में आदर्श स्थापित करते हैं, किन्तु अधिकांश महापुरुष स्वेच्छाचारी होते हैं। उन्हें आदर्शादि से विशेष तात्पर्य नहीं। वे महापुरुष, लोक एवं वेद से अतीत होने के कारण लोक-वेद धर्म से विरुद्ध से प्रतीत होते हैं। भागवत में शुकदेव जी परीक्षित से कहते हैं :—

"धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा। (भा० १०-३३-३०)
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः

"विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजंविषम्"।

(भा० १०-३३-३१)

अर्थात्—समर्थ लोगों में धर्म से विपरीत आचरण पाया जाता है, किन्तु उन तेजस्वी महापुरुषों के निमित्त वह दोष नहीं होता। जिस प्रकार कि अग्नि सब कुछ खाकर भी शुद्ध रहती है। तुलसी के शब्दों में :—

"समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं, रवि पावक सुरसरि की नाईं।"

किन्तु असमर्थ जोव भूल कर भी, मन से भो, उन धर्म-विपरीत आचरणों का चिन्तन तक न करे, अन्यथा वह मूढ़ सर्वथा नष्ट हो जायगा। देखो, भगवान् शंकर हालाहल विष पी गये, किन्तु यह हमारे लिये आचरणोय नहीं है। मदारी साँपों के साथ खेलता है, किन्तु वह सब के लिये अनुकरणोय नहीं होता। महापुरुषों की बात तो जाने दीजिये, हमें तो अपनी स्थिति से थोड़ी भी आगे वाली स्थिति की बात बिना उस अवस्था पर पहुँचे आचरणीय नहीं, अन्यथा अनधिकार चेष्टारूप वह अनुकरण हमारे लिये महान् घातक बन जायगा। आचरण तो अपनी कोटि एवं अधिकार के अनुसार ही करना चाहिये। भगवती श्रुति कहती है :—

"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"

अर्थात् वेद कहता है कि हमारे सुन्दर चरित्र ही तुम्हारे लिये अनुकरणीय हैं, अन्य नहीं। अन्य शब्द से सिद्ध होता है कि सुचरित्र के अतिरिक्त भी आचरण हो सकता है, किंतु वह

तुम्हारे काम का नहीं। शुकदेव जी भागवत में आगे चल कर कहते हैं :—

'कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो !'

(भा० १०-३३-३३)

अर्थात् महापुरुषों का शुभ कर्म करने का कोई अभिप्राय नहीं, तथा अशुभ कर्म करने से कोई अनर्थ नहीं। महापुरुष तो शुभाशुभ-कर्मबंधनों से पृथक् हो जाते हैं। उन्हें तो शुभाशुभ दोनों ही कर्मों का फल नहीं मिलता। वे तो गुणातीत हो जाते हैं। आगे चल कर भागवत में शुकदेव जी फिर कहते हैं :—

"यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बंधः"

(भा० १०-३३-३५)

अर्थात् जो श्रीकृष्ण चरणारविंदों के उन्मत्त रसिक हैं, अथवा जो योगादि के द्वारा समस्त कर्मबंधनों को काट चुके हैं, स्वेच्छा-पूर्वक आचरण करते हैं। हमारे इतिहास में महापुरुषों के विषय की ऐसी अनन्त विलक्षणतायें हैं जो महान् से महान् विद्वान् की बुद्धि को भ्रम में डाले रहती है, उदाहरणार्थ ब्रह्मा शंकरादिकों का मोह एवं उन्हें भी क्रोधादि व्याप्त होना, तथा संहारादि क्रोध विषयक कार्य होना, नित्य जीवन्मुक्त सनकादिकों का क्रोधवश

शापादि देना, नारद, विश्वामित्र, अर्जुनादिकों की स्त्रियों में आसक्ति, दुर्वासादि का महानतम क्रोधप्राकट्य एवं शापादि देना, हनुमान् आदि का सर्वत्र भगवद्बुद्धि होते हुये भी दैत्यों को मारना। कहाँ तक कहा जाय! शास्त्रों में ऐसे अनंत उदाहरण हैं, जो हमारी अल्पज्ञता के कारण समझ में नहीं आ सकते। कारण यह है कि भगवान् की अघटितघटनाघटीयसी योगमाया की अनंत अचिन्त्य शक्तियाँ हैं, एवं उन्हीं की शक्तियों से ही महापुरुष कार्य करता है। अतएव महापुरुषों के अलौकिक-कार्य हमारी लौकिकबुद्धि के पैमाने पर किसी प्रकार नापे नहीं जा सकते। जब प्राकृत जगत में भी 'भारतीय विधान' 'रूस' आदि देशों में लागू नहीं हो सकता, तब समस्त प्राकृत विधान अप्राकृतक्षेत्रों में किस प्रकार लागू हो सकते हैं।

यदि महापुरुष अथवा भगवान् के कार्य लौकिक बुद्धि के आधार पर ही तौले जा सकें, तब तो महापुरुष एवं भगवान् भी गुणातीत, लोकातीत, शुभाशुभ-कर्मातीत, बुद्धि-अतीत न रह जाएगा। अतएव आस्तिक विचारशील व्यक्ति को उन लोकातीत अचिन्त्य महापुरुषों के कार्यों पर लौकिक बुद्धि से विचार न करना चाहिये, अन्यथा सब किया कराया मटियामेट हो जायगा। साथ ही यह भी अत्यन्त विचारणीय बात है कि उनकी उपमा मायिक जीव को भूल कर भी अपने मिथ्याहंकार युक्त निकृष्ट कर्मों में न देनी चाहिये। महापुरुषों के कार्य, भगवान् के

संकल्पों से संबद्ध होने के कारण मंगलमय होते हैं, भले ही वे कार्य देखने में प्राकृत से प्रतीत हों। :—

ईश्वराणां वचः सत्यं तेषामाचरितंक्वचित् (भा० १०—३३—३२)

अर्थात् महापुरुष के आदेश माननीय हैं उनका आचरण तो कहीं २ ही माननीय होता है।

मौलाना जलालुद्दीन रूमी एक बहुत बड़े मुस्लिम फ़क़ीर हो गये हैं। उनके ग्रंथ "मसनवी" (भाग १ कथा १२) में लिखा है कि फ़क़ीरों के लिये कारनामों की किताबें नहीं देखी जातीं। कारनामों से अभिप्राय है पुण्य, पाप रूपी विधि-निषेध से। आर० ए० निकल्सन (R. A. Nicholson), इस्लाम के रहस्य वाद के लेखक ने लिखा है कि साधक की तरह सिद्धों को विधि, निषेध, अपेक्षित नहीं हैं। उन्होंने "दीवाने शम्से तब्रीज़" नामक ग्रंथ में लिखा है कि पीर (महापुरुष) की ईश्वर से एकता होने के कारण उसके कार्य भी ऐश्वरीय होते हैं। क़ुरान के अठरहवें अध्याय—"सुरातुलक़हफ़" में देखिये :—हज़रत मूसा ने अलख़िज्र नामक फ़क़ीर के पास कुछ दिन रहने की आज्ञा ली। शर्त यह थी कि अलख़िज्र के कार्यों में हज़रत मूसा कुछ भी दख़ल न दें। अलख़िज्र हज़रत मूसा को लेकर चले। कुछ दूरी पर समुद्र के किनारे खड़े हुए एक जहाज़ में अलख़िज्रने छेद कर दिया, जिससे वह जहाज़ डूब गया। हज़रत मूसा ने इस बारे में बहुत सोच विचार किया, पर कुछ भी निर्णय न कर सकने के कारण चुप रह गये। आगे चल कर अलख़िज्र ने

एक युवक की हत्या कर डाली। इस बार भी किसी प्रकार हज़रत मूसा ने चुप्पी साध ली। फिर आगे चल कर अलखिज्र एक गिरी हुई दीवार की मरम्मत में लग गये। अब तो हज़रत मूसा से न रहा गया। उन्होंने हठपूर्वक अलखिज्र से रहस्य पूछा अलखिज्र ने कहा "देखो, यह जहाज़ द्रव्य से लदने पर राजा द्वारा हरण कर लिया जाता, तथा वह युवक महा आततायी था एवं उस दीवार के नीचे संपत्ति गड़ी है, अभी दोनों बालक अबोध हैं, उनके लिये हमने ऐसा किया"। किन्तु यदि तुम इसी प्रकार हमारे प्रत्येक कार्यों का रहस्य समझना चाहोगे तो तुम हमारे पास नहीं रह सकते। देखिये, महाभारत में घटोत्कच की उत्पत्ति का प्रकरण। तथा फिर देखिये, घटोत्कच बध का प्रकरण। इसके अतिरिक्त जब धृतराष्ट्र ने भीमसेन को मरते समय बुलाया था तब श्रीकृष्ण ने लोहे का भीमसेन बना कर भेज दिया था। महान् से महान् बुद्धिमानों ने उस समय यही कहा था कि श्रीकृष्ण का यह उपहास एक दुखी बूढ़े पूर्वज के प्रति ठीक नहीं हुआ। किन्तु पश्चात् रहस्य खुला कि यदि भीमसेन को भेज देते तो बरदान के अनुसार धृतराष्ट्र के आलिंगन से भीमसेन की हड्डी पसली का मलीदा बन जाता। उठाइये तुलसीदास की विनय पत्रिका :—

जाको हरि दृढ़ करि अंग कर्यो ॥
सोइ पंडित सुशील कोविद विद, विद्या गुननि भर्यो। १
उतपति पाण्डु सुतन की करनी, सुनि सत्पंथ डर्यो। २

ते त्रैलोक्य पूज्य पावन यश, सुनि सुनि लोक तर्यो। ३

अर्थात् जिसको भगवान् अपना बना लेते हैं, वह सब प्रकार से अशुद्ध आचरण करते हुये भी विशुद्ध रहता है, वही पंडित है, वही सुशील है, वही ज्ञानी है, वह समस्त विद्याओं एवं गुणों का भंडार है। पाण्डवों की उत्पत्ति [युधिष्ठिर, अर्जुन, भीमसेन, नकुल, सहदेव, का क्रमशः धर्मराज, इन्द्र, वायु एवं अश्विनीकुमारों से उत्पन्न होना] एवं उनका एक द्रौपदी को ही स्त्री बनाना रूप कर्म सुन कर वेद का सन्मार्ग भी भयभीत होता है, किन्तु उनके, देखने में इन दुश्चरित्रों, किन्तु वस्तुतः परम मंगलमय सुचरित्रों को सुन सुन कर ही जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार महापुरुष एवं उसका कार्य सदा ही परम पवित्र है। महापुरुष के कार्य तो "योगक्षेमं वहाम्यम्" इस गीता के सिद्धान्तानुसार भगवान् के द्वारा ही होते हैं। :—

"मयि ते तेषु चाप्यहम्" इस गीता के सिद्धान्तानुसार जब भगवान् भक्त में रहता है, एवं भक्त भगवान् में रहता है, तब फिर महापुरुषों का कार्य भगवत्कार्य ही तो है। "यथा राजा तथा प्रजा" के अनुसार भगवान् एवं महापुरुष दोनों ही के कार्य अचिन्त्य हैं। अतएव हम लोकातीत, गुणातीत, मायातीत, भगवत्स्वरूप महापुरुषों के आचरणों पर अपनी सीमित, लौकिक, मायिक बुद्धि लगा कर अपने पागलपन का परिचय न दें। हम केवल उनके आदेशों का ही पालन करें। अन्यथा उनके खिलवाड़

में पड़ कर हम नष्ट हो जायेंगे। ब्रह्मा को मोह, शंकर को मोह, विष्णु को मोह, नारद को मोह, गरुड़ को मोह, पार्वती को मोह, आदि वस्तुतः मोह नहीं हैं। वे सब तो भगवान् की ही योग-माया के कार्य हैं। उपरोक्त समस्त महापुरुष अनादि काल के ही नित्य सिद्ध भगवत्स्वरूप हैं। अतएव हम महापुरुषों के इन विलक्षण लक्षणों को अपनी सीमित बुद्धि के पैमाने से न नापते हुये उनका विपरीत अर्थ न समझें, तथा उन परम पवित्र, किन्तु देखने में अपवित्र, चरित्रों का अनुकरण भी न करें। हम तो अपने आम खाने से ही काम रखें। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनु-मानादि के द्वारा प्रेमी महापुरुष को, कुछ मात्रा में, कुछ दिन संग करने पर अवश्य समझा जा सकता है। पर यह भी बड़े ही सुकृतों के फल स्वरूप ही होता है। तुलसी के शब्दों में :—

"पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न संता" तथा साथ ही भगवत्कृपा भी अपेक्षित है पुनः तुलसी के शब्दों में :—"बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता" अस्तु यदि विरक्त साधक दीन भाव से आर्त्त होकर अकारण-करुण-भगवान् से प्रार्थना करता है कि 'हे करुणा करुणालय ? मैं आपको एवं आपके जनों को किसी भी प्रकार नहीं समझ सकता, आप ही अपने भक्तों को भेज कर समझाइये, तथा मुझे अपनाइये। जब इस प्रकार अकिञ्चन बन कर शुद्ध, सरल, निष्कपट, भाव से साधक पुकारता है तब वे ही अकारण-करुण भगवान् अपनी प्रेरणा से उसे महापुरुष से मिला देते हैं, एवं तभी वह बड़भागी जीव, महापुरुष को समझ भी पाता है,

अन्यथा बुद्धिवाद के फेर में पड़ कर तो जीव अनादि काल से अनंतानंत बार भगवान् एवं भगवज्जनों को पाकर खो चुका है आज ही की कोई नई बात नहीं। इसीलिये तो तुलसीदास गोल मोल शब्दों में कहते हैं :—"जो येहि भांति बनै संजोगा" अर्थात् यह लिखने, पढ़ने, समझने, समझाने, की बात नहीं। जब ऐसा संयोग किसी भी प्रकार बन जाय कि विरक्त श्रद्धालु जीव, महापुरुष को पहिचान ले, तभी यह उलझी समस्या सुलझ सकती है। फिर आगे कुछ भी कठिनता नहीं है। मेरा तो निजी विश्वास है कि महापुरुषप्राप्ति एवं उसके प्रति पूर्ण विश्वास ही भगवत्प्राप्ति का पक्का प्रमाण है। अतएव संसार का वास्तविक स्वरूप समझ कर एवं उससे विरक्त हो कर श्रद्धासंपत्ति द्वारा वास्तविक महापुरुष के वास्तविक शरणागत होना चाहिये।

महापुरुष-शरणागति

महापुरुष एवं गुरु—महापुरुष एवं गुरु एक ही वस्तु हैं। जिस महापुरुष के जो जीव शरणागत हो जाता है, साधक के लिये वही महापुरुष गुरु हो जाता है, एवं शरणागत जीव का वही गुरु, योगक्षेमवहन करता है। शास्त्रों में गुरु की महिमा किसी से भी अज्ञात नहीं है। मेरी समझ में तो भगवान्, महापुरुष एवं गुरु तीनों ही परस्पर एक होते हुये भी उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण हैं, किन्तु यह स्मरण रहना चाहिये कि इन तीनों में भेद भाव न होने पाये।

प्रायः देखा जाता है कि साधकगण गुरु की शरणागति में तो रहते हैं, पर अन्य महापुरुषों के प्रति दुर्भाव रखते हैं। यह बात तो वैसी ही है जैसे कि हम अपने पूज्य के उस हाथ की तो पूजा करते हैं जो हमारे सिर पर है, किन्तु दूसरे हाथ को काटते हैं, जो उसी पूज्य व्यक्ति का है। अतएव गुरु एवं महापुरुष को पृथक् न समझना चाहिये। हाँ, इतना अवश्य है कि अपने गुरु की ही आज्ञा पालन-रूप साधना करनी चाहिये। एक कहानी आपने सुनी होगी :—एक गुरु के दो शिष्य थे दोनों ने गुरु जी के एक एक पैर की सेवा प्रारम्भ की। पश्चात् शिष्यों में परस्पर वैमनस्य होने के परिणाम-स्वरूप गुरु जी को एक शिष्य द्वारा

अपने एक पैर से हाथ धोना पड़ा। अर्थात् एक शिष्य ने गुरु जी के दूसरे पैर को दूसरे शिष्य का ही समझ कर कुल्हाड़ी मार दिया। महापुरुष एवं गुरु की एकता के विषय में व्रजरसिक व्यास जी कहते हैं:—

"सबै सन्त गुरुदेव हैं व्यास हिये परतीत"

भगवान् एवं महापुरुष

भगवान् एवं महापुरुष के विषय में साधकों को बहुधा भ्रम हुआ करता है। कोई कहता है भगवान् बड़ा है, क्योंकि आखिर को वह भगवान् ही है। वही तो अनादि-पुरुष एवं सब का स्वामी है। महापुरुष तो उसी के द्वारा शक्ति प्राप्त करके महापुरुष बना है। यदि भगवान् अपनी शक्ति न दें अथवा देकर भी छीन लें तो महापुरुष का महापुरुषत्व धरा रह जाय। कोई कहता है "राम ते अधिक राम कर दासा" अर्थात् महापुरुष भगवान् से बढ़ कर होता है। भगवान् को समुद्र एवं महापुरुष को बादल माना है। इसी प्रकार भगवान् को चन्दन का वृक्ष एवं महापुरुष को वायु माना है। तात्पर्य यह कि समुद्र एवं चन्दन-वृक्ष से किसी भी जीव को किञ्चित् भी लाभ नहीं प्राप्त हो सकता, जब तक बादल एवं वायु उसे जीवों तक न पहुँचायें। तुलसी के शब्दों में :—

"राम सिंधु घन सज्जन धीरा, चन्दन तरु हरि सन्त समीरा"

अब यह देखना है कि इस विषय में भगवान् की क्या राय है?

भगवान् आदिपुराण में स्वयं कहते हैं कि जो मेरा भक्त है वह मेरा भक्त नहीं, किन्तु जो मेरे भक्त का भक्त है, वही मेरा भक्त है।

"ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते जनाः
मद्भक्तानां तु ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः" (आदि पुराण)

अस्तु विचारणीय यह है कि क्या महापुरुष एवं भगवान् दोनों दो तत्व हैं ? महापुरुष हम उसे ही तो कहते हैं जिसके हृदय में भगवान् नित्य अविच्छिन्न रूप से निवास करते हैं, तथा जिसका योगक्षेम (अप्राप्त वस्तु को देना एवं प्राप्त की रक्षा करना) वहन निरंतर भगवान् ही तो करते हैं। देखिये गीता :—

"अनन्यांश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" (६-२८)

तथा फिर गीता—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः
मां भजंति तु ये भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" (६-२८)

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि जो भक्त अनन्य भाव से एक मात्र मेरा ही चिंतन करता हुआ मेरी उपासना करता है, तथा नित्य ही अपने मन को मुझ में लगाये रहता है, उसके योग-क्षेम को मैं स्वयं वहन करता हूँ। यद्यपि मैं समदर्शी हूँ, कोई भी प्राणी न तो मेरा शत्रु ही है, न तो प्रिय ही है, तथापि जो अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, वह मेरे ही में निवास करता है, एवं मैं उसमें ही निवास करता हूँ। यदि ऐसा है तब तो वही

बात हुई, जैसे कि सौ रुपये का पृथक् नोट एवं मनीबेग में रखा हुआ सौ रुपये का नोट। अर्थात् एक तो दिव्य चिन्मय देहयुक्त भगवान्, दूसरे महापुरुषों के प्राकृत शरीर में विराजमान दिव्यचिन्मय देहयुक्त भगवान्।

वास्तव में ऐसी ही बात है। भगवान् के विषय में तो एक बात और भी विचारणीय है। वह यह कि वे समदर्शी हैं। अर्थात् जीव के कर्मानुसार ही फल प्रदान करते हैं। उनका यह शाश्वत विधान तब तक नहीं बदल सकता, जब तक जीव शरणागति-पूर्वक शुद्धान्तःकरणयुक्त होकर निरंतर भगवान् का भजन नहीं करता।

किन्तु महापुरुष-रूपी भगवान् तो जीवों के समक्ष हठात् आ आ कर दर्शन, सत्संग, आदि के द्वारा जीवों को वहाँ तक ले जाता है, जहाँ पर उस जीव के लिये भगवान् की समदर्शिता का विधान लागू नहीं होता। अर्थात् गीता के अनुसार 'न मेरा कोई शत्रु है,' 'न प्रिय है', यह विधान बदल कर 'अर्जुन! तू मेरा प्रिय है' तथा 'तेरे लिये उपरोक्त शुभाशुभ कर्मों के भोग का विधान लागू नहीं किया जायगा', एवं 'मैं तुझे समस्त पापों से बचा लूंगा' इत्यादि रूप में बदल जाता है। स्थूल रूप से यों समझना चाहिये कि भगवान् रूपी पति तो 'शरणागत नित्य-अभियुक्त जीव-रूपी-षोडश-वर्षीय कन्या से विवाह करता है, किंतु महापुरुषरूपी पिता तो पैदा होने से लेकर सोलह वर्ष की अवस्था तक का पालन, पोषण, शिक्षण, आदि सभी कुछ करता है। अतएव

हमारे लिये महापुरुष एवं भगवान् दोनों ही एक तत्व होते हुये भी, कार्य के दृष्टिकोण से महापुरुष ही विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि वही, जीव को नीचे से उठा कर ऊपर को ले जाता है।

इतिहास साक्षी है कि भगवान् अपने प्रति किये हुये अपराधों पर विशेष विचार नहीं करते, किन्तु महापुरुषों के प्रति किये हुये अपराधों को भगवान् किसी भी प्रकार क्षमा नहीं करते। कहाँ तक कहा जाय! महापुरुष तो भगवान् के बनाये हुये विधान को भी काट देता है। मैं विस्तार नहीं करना चाहता, इतनाही समझना पर्याप्त है, कि भगवान् को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतने प्यारे उन्हें ब्रह्मा भी नहीं, शंकर भी नहीं, बलराम भी नहीं, महालक्ष्मी भी नहीं, यहाँ तक कि उन्हें अपनी आत्मा भी उतनी प्यारी नहीं है। इसी भाव को लेकर भागवत कहती है:—

"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनि र्न शंकरः
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्" (भा० ११-१४-१५)

तात्पर्य यह है कि भगवान्, महापुरुष, एवं गुरु, इन सब को सैद्धान्तिक रूप से एक ही समझना चाहिये, किंतु उपासना भगवान् की ही करनी चाहिये, क्योंकि महापुरुषों के प्रति प्राकृतिक-देह होने के कारण लोक-बुद्धि उत्पन्न होने का भय रहता है। यह साधारण साधकों से दुःशक्य है। एक महापुरुष ने क्या ही अनूठे ढंग से उपरोक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

"भक्ति, भक्त, भगवंत, गुरु, चतुर्नाम वपु एक।"

अर्थात् एक शरीर के ही भक्ति, भक्त, भगवान् एवं गुरु ये

चार नाम हैं। पृथक् पृथक् कार्य करने से ही ये पृथक् पृथक् भासित होते हैं। जिस प्रकार भगवान् एक होते हुये भी अनंत हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सिद्धान्त को भी समझ कर यह कुतर्क न करना चाहिये कि महापुरुषों के अनंत होने के कारण भगवान् भी अनंत हो जायँगे। जिस प्रकार अग्नि अनंतानंत घरों में पृथक् पृथक् जलती हुई भी तत्वतः एक ही है, उसी प्रकार अनंता-नंत महापुरुष-रूपी भगवान् के होते हुये भी तत्वतः भगवान् एक ही है।

अतएव महापुरुष-रूपी अमूल्य वस्तु का मूल्य समझते हुये, श्रद्धालु विरक्त जिज्ञासु को, महापुरुष की शरण ग्रहण करनी चाहिये।

शरणागति के प्रधानतया छे अंग माने गये हैं।

"आनुकूल्यस्य संकल्पः, प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्

रक्षिष्यतीति विश्वासः, गोप्तृत्वे वरणं तथा

निक्षेपणं ह्यकार्पण्यं, षड्विधा शरणागतिः" (वायुपुराण)

अर्थात् (१) अपने शरण्यगुरु के प्रति अनुकूल इच्छा रखना।

(२) गुरु की इच्छा के प्रतिकूल-आचरणों से बचना।

(३) "वे हमारी अवश्य ही रक्षा करेंगे" ऐसा दृढ़ विश्वास रखना।

(४) उनको सदा ही अपना रक्षक समझना।

(५) अपने आप को गुरु के पास धरोहर रूप से सौंप देना।

(६) गुरु को अपना सर्वस्व देने में संकोच न करना।

सद्गुरु की शरणागतिमात्र से ही जीव, महापुरुष बन जाता है, क्योंकि शरणागत जीव उपरोक्त छहों अंगों से युक्त होता है अतएव उसका योग-क्षेम गुरु स्वयं वहन करता है, किसी प्रकार की गड़बड़ी हो ही नहीं सकती। देखिये, सम्राट् हरिश्चन्द्र को, अपने गुरु विश्वामित्र की शरणागति का आदर्श रखते हुये गुरु के निमित्त सम्पूर्ण राज्य, स्त्री, पुत्र सभी को समर्पित करते हुये, बिना साधन किये ही भव-सागर से उत्तीर्ण हो गये। महापुरुष तो स्पष्ट कहते हैं कि जीव, साधन करके तो कुछ प्राप्त ही नहीं कर सकता। "गुरोः कृपैव केवलम्" अर्थात् केवल गुरु की कृपा से ही सब कुछ प्राप्त होता है, साधन तो निमित्तमात्र हैं।

किन्तु केवल कान फुंका लेने मात्र से, अथवा गुरु जी के पैर दबाने मात्र से, अथवा गुरुजी को सांसारिक-द्रव्य देने मात्र से, अथवा बातें बनाने मात्र से, शरणागति नहीं हो सकती। शरणागति तो एक प्रकार का आत्म-दान है। जिस प्रकार गो-दान करने के पश्चात् उस गाय से दान करने वाले का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार आत्म-समर्पण करने के पश्चात् जीव का कुछ भी स्वतंत्र कर्तृत्व नहीं रह जाता। फिर तो शरणागत जीव, गुरु के आदेशानुसार ही मन-बुद्धि को चलाता है। जिस प्रकार विद्यार्थी अध्यापक के आदेशानुसार ही अक्षरों का निर्माण एवं उच्चारण करता है, पृथक् से अपनी अल्प-बुद्धि का उपयोग नहीं करता, उसी प्रकार शरणागत जीव को भी भगवद्विषयक

साधनाओं में गुरू के आदेशानुसार ही चलना चाहिये, पृथक से अपनी बुद्धि नहीं लगानी चाहिये।

किन्तु यह बात योग-भ्रष्ट-संस्कारियों को छोड़कर किसी भी जीव से सहसा नहीं हो जाती। जितनी मात्रा में संसार से वैराग्य एवं महापुरुष के प्रति श्रद्धा होती है, उतनी ही मात्रा में शरणागति भी होती जाती है।

किञ्चित भगवद्गीता पर एक विहंगम दृष्टि डालिये। अर्जुन-रूपी साधक, गीता के प्रथम अध्याय में कहता है:—

"शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्,, अर्थात् हे गुरुदेव श्री कृष्ण! मैं तुम्हारा शरणागत शिष्य हूँ। मुझे आज्ञा दो, मैं क्या करूं? अंत में गुरुदेव श्रीकृष्ण कहते हैं। "मामेकं शरणं व्रज" अर्थात् हे शिष्य अर्जुन! तू एकमात्र मेरी ही शरण में आजा।

अब विचारणीय यह है कि प्रथम अध्याय से लेकर अंत तक इतना विस्तार करने की क्या आवश्यकता थी, जब कि वह अर्जुन पूर्व में ही शरणागत था।

मेरी राय में तो अर्जुन पूर्व में पूर्ण शरणागत नहीं था, क्योंकि यदि मन-बुद्धि-समर्पणयुक्त-शरणागति, छहों अंगों से युक्त होती तो रणक्षेत्र में विपरीत-भाव अपने मन में न लाता। अर्थात् जब श्रीकृष्ण की आज्ञा से रणक्षेत्र में गया ही था, एवं शंख-ध्वनि भी हो चुकी थी, तब अपनी बुद्धि का उपयोग, गुरु श्रीकृष्ण की रुचि के विपरीत उसे नहीं करना चाहिये था। वह तो विपरीत-भाव में न जाने क्या क्या सोच बैठा। यथा:—

इन गुरु जनों को मारूंगा, स्त्रियां विधवा होंगी, वर्णसंकर सन्तानें होंगी, पाप होगा, ऐसी रक्त से सनी हुई पृथ्वी को मैं नहीं भोगना चाहता, इत्यादि । अतएव मुझे युद्ध नहीं करना चाहिये । इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि अर्जुन शिष्य, अपने आपको अपने गुरु श्रीकृष्ण से भी अधिक बुद्धिमान् समझता है । तभी तो शास्त्रों, वेदों का तत्व श्रीकृष्ण के समक्ष रख कर स्वयं निर्णय देता है, कि युद्ध करने से पाप होगा । जब शिष्य अर्जुन, गुरुदेव श्रीकृष्ण के शरणागत था, तब उसने अपनी बुद्धि के द्वारा पाप-पुण्य का विचार ही क्यों किया ?

आगे चल कर इसी विषय का शास्त्रों ही के द्वारा गुरुदेव श्रीकृष्ण ने तत्व-ज्ञान कराया, तब अर्जुन पूर्ण शरणागत हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप तत्क्षण ही अधिकारी बन गया । गीता-कार ठीक ही कहते हैं "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" अर्थात् जीव एक क्षण में ही धर्मात्मा बन जाता है । तत्पश्चात् अर्जुन के पूर्ण शरणागत-रूप अधिकारी बन जाने पर तत्क्षण ही गुरुदेव श्रीकृष्ण को अपना विराट्-स्वरूप दिखाना पड़ा । स्वयं अपना यह गुप्त रहस्य भी प्रकट करना पड़ा कि हे अर्जुन ! तू मेरी आज्ञानुसार कार्य कर, मैं तुझे समस्त पापों से बचा लूंगा, तू इसकी चिंता न कर ।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः" (गीता १८-६६)

फिर क्या था, अर्जुन "युद्धाय कृतनिश्चयः" अर्थात् युद्ध के लिये तैयार हो गया।

संक्षेपतः यही शरणागति का रहस्य है। इसे बड़ी ही सावधानी पूर्वक समझ कर साधक को शरणागत होना चाहिये। क्योंकि गुरु शरणागति ही सब से महान् साधना है, इसके पश्चात् की समस्त-साधनायें तो निमित्तमात्र हैं, जो कि शरणागति के पश्चात् स्वभावतः ही सिद्ध हो जाती हैं।

इस प्रकार संसार का स्वरूप समझ कर विरक्त होने से श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् श्रद्धा-युक्त साधक, वास्तविक महापुरुष-रूप सद्गुरु के शरणागत होता है। तत्पश्चात् साधक की भगवत्-संबन्धी साधना का श्रीगणेश होता है। जीव का यह वही शुभ-मुहुर्त है जिसकी प्रतीक्षा में वह अनादि काल से था।

साधना के विषय में तो सद्गुरु ही आपको बोध करा सकता है, उसके विषय में मेरा कुछ भी लिखना अनधिकार चेष्टा है, किन्तु फिर भी मेरे गुरु ने मुझे जो कुछ साधना बतायी है, उसी को आप लोगों के समक्ष रखने का प्रयत्न करूंगा।

साधक-प्रश्नोत्तर-माला

शरणागत, जिज्ञासु-भाव से अपने गुरुदेव से कहता है :—

शरणागत—हे गुरुदेव ! क्या प्रश्न करना शरणागति के वरुद्ध तो नहीं होगा ?

गुरुदेव—नहीं, नहीं ! शरणागति के पश्चात् शरणागत, जिज्ञासु भाव से प्रश्न कर सकता है, और उसे प्रश्न करना भी चाहिये ! गीता भी कहती है :—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" (गीता ४-३४)

अर्थात् शरणागति के पश्चात् सेवा-युक्त होकर जिज्ञासु-भाव से प्रश्न करने पर ही सद्गुरु के द्वारा तत्वज्ञान होता है। तुम्हें पूर्ण अधिकार है।

शरणागत—गुरुदेव!सर्वप्रथम यह बताइये कि हमारे यहाँ शास्त्रों, वेदों में अनेक प्रकार के मत क्यों बन गये हैं ? तथा इन विविध-मतों में कौन सत्य हैं ? कौन असत्य हैं ?

गुरुदेव—देखो, यही प्रश्न एक बार उद्धव जी ने अपने गुरुदेव श्रीकृष्ण जी से किया था। बात यह है कि भगवान् ने तो सर्वप्रथम वेदों के द्वारा केवल अपने निज भागवत-धर्म का ही उपदेश किया था, किंतु अनंतानंत जन्मों के संस्कारों के कारण,

तथा सत, रज, तम गुणों से युक्त बुद्धि होने के कारण, एवं अनन्त प्रकार की रुचि-वैचित्र्य होने के कारण, इस दिव्य वेद वाणी का साधकों ने अनेकानेक अर्थ कर डाला, जिसके परिणाम-स्वरूप अनेकानेक मत बन गये। उनमें कुछ सत्य भी हैं, कुछ असत्य भी हैं। कुछ मत तो ऐसे हैं जो कि शास्त्रों वेदों के भी विपरीत, दंभियों ने बीच में ही गढ़ लिया है। यह प्रश्न एक समुद्र-मंथन के समान है।

कुछ शास्त्रकार धर्म को, कुछ यश को, कुछ सत्य को, कुछ शम दमादि को, कुछ यम नियमादि को, कुछ जप को, कुछ तप को, कुछ यज्ञ को, कुछ दान को, कुछ व्रत को, कुछ आचार को, कुछ योगादि को, इत्यादि विविध प्रकार के साधनों को कल्याण का साधन बताते हैं, किंतु वास्तव में इन साधनों से वास्तविक कल्याण नहीं होता, क्योंकि इन साधनों के परिणाम-स्वरूप जो लोक मिलते हैं, वे आदि अंत वाले होते हैं। उनके परिणाम में दुःख ही दुःख होता है। वे अज्ञान से युक्त होते हैं। वहाँ भी अल्प एवं क्षण-भंगुर ही सुख मिलता है, तथा वे स्वर्गादि समस्त लोक, शोक से परिपूर्ण होते हैं। अतएव उसकी प्राप्ति, तत्वज्ञ पुरुष नहीं करता, एवं उसे भी इसी लोक के सदृश असत्य समझ कर परित्याग कर देते हैं।

सत्य मार्ग यह है कि जीव, एकमात्र पूर्णतम पुरुषोत्तम आनन्द-कन्द सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में ही अपने आपको समर्पित कर दे, एवं उन्हीं के नाम, गुण, लीलादिकों का स्मरण

करता हुआ रोमाञ्च युक्त होकर, आनन्द एवं वियोग के आँसू बहावे। अपने हृदय को द्रवीभूत कर दे, तथा मोक्षपर्यन्त की समस्त इच्छाओं का सर्वथा त्याग कर दे। इस प्रकार बिना किये अन्तःकरण शुद्धि नहीं हो सकती। स्मरण रहे, सत्य एवं दया से युक्त धर्म, एवं तपश्चर्या से युक्त विद्या भी भगवान् की भक्ति से रहित जीव को पूर्णतः शुद्ध नहीं कर सकती।

(देखो, भागवत ग्यारहवां स्कंध चौदहवां अध्याय)

प्रश्नः—"वदंति कृष्ण ! श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता" (भा० ११-१४-१)

उत्तर :—"याभिर्भूतानि भिद्यंते भूतानां मतयस्तथा
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवंति हि" ।

(भा० ११-१४-७)

"एवं प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यंते मतयो नृणाम्
पारंपर्येण केषांचित्पाखंडमतयोऽपरे।"

(भा० ११-१४-८)

"मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ !
श्रेयो वदन्त्यनेकांतं यथाकर्म यथारुचि"

(भा० ११-१४-९)

"धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं शमं दमम्
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम्।"

(भा० ११-१४-१०)

"केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।"

(भा० ११-१४-११)

"दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानंदाः शुचार्पिताः" ॥

"न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव !
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता"

(भा० ११-१४-२०)

तथा

"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि संभवात्"

(भा० ११-१४-२१)

"धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता
मद्भक्त्यपेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि"

(भा० ११-१४-२२)

"कथं विना रोमहर्षं द्रवता वा चेतसा विना
विनानंदाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाशयः"

(भा० ११-१४-२३)

तथा

"यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्"

(भा० ११-१४-२५)

"य. । यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवांजनसंप्रयुक्तम्"
(भा० ११-१४-२६)

तात्पर्य

"विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते"
(भा० ११-१४-२७)

अतएव श्रीकृष्ण-विशुद्ध-भक्ति मार्ग ही भागवत धर्म है, तथा वही सत्य मार्ग है।

शरणागत—गुरुदेव ! यह तो समझ में आगया। अब यह बताइये कि ज्ञान एवं भक्ति मार्ग के फलों में क्या भेद है ? तथा दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? इन दोनों मार्गों का अधिकारी कौन है ? तथा यह भी बताइये कि मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी परमहंस ज्ञानी, भक्ति क्यों चाहता है, जबकि भक्ति के द्वारा अंतःकरण शुद्ध कर लेने पर जीव, ब्रह्म-जिज्ञासा का अधिकारी होता है, ऐसा शास्त्रकारों का सिद्धांत है।

गुरुदेव—तुम्हारे प्रश्न अत्यंत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। देखो, आत्यन्तिक-दुःख-निवृत्ति रूप मुक्ति-पद प्राप्त करने के दृष्टिकोण से तो ज्ञान एवं भक्ति मार्ग वस्तुतः दोनों ही एक से हैं। तुलसी के शब्दों में:—

"ज्ञानहिंभक्तिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।"

गीताकार के शब्दों में—

"ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः (गीता अध्याय १२-४)

भक्ति-मार्ग द्वारा प्राप्त भक्ति, मुक्ति के पश्चात् भी प्रेम रस का आस्वादन कराती है, जिसके बिना ज्ञानियों का ब्रह्म भी नहीं रह सकता। अथवा यों समझो कि जिस प्रेमाशक्ति-रूपा भक्ति के आधीन ज्ञानियों का आराध्य ब्रह्म भी रहता है, उस प्रेमाशक्ति-रूपा भक्ति को भक्ति-मार्ग ही प्रदान करता है। अब इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है यह समझ में स्वयं ही आ गया होगा।

ज्ञानमार्ग का अधिकारी साधन-चतुष्टय-संपन्न, देहाभिमान रहित जीव ही होता है। अतएव गीताकार कहते हैं कि ज्ञानमार्ग अत्यंत ही क्लिष्ट है। तथा देहाभिमानियों के हेतु तो सर्वथा ही असंभव है: —गीता—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते" (गीता १२ अध्याय-५)

इसके अतिरिक्त आदि शंकराचार्य का "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" सूत्र में किया हुआ भाष्य पढ़ लेना। जिसका अभिप्राय भी उपरोक्त ही है।

अनधिकारी, शब्द जगत में मंडराने वाले वेदान्वी तो उसी प्रकार हैं, जैसे कि किसी शीशी के भीतर शहद भरा हो, शीशी का मुख बन्द हो, फिर भी मधु-मक्खी शीशी के बाहर बैठ कर यह समझे कि मैं शहद के पास पहुंच गई, अब रस मिलने ही वाला है।

भक्तिमार्ग का अधिकारी वह है जो न तो सांसारिक विषयों में अत्यन्त आसक्त ही होता है, और न तो साधन-चतुष्टयी की भांति अत्यन्त विरक्त ही होता है। इस प्रकार प्रायः सभी जीव भक्ति मार्ग के अधिकारी होते हैं, कारण यह है कि सांसारिक विषयों में बार बार दुःख का अनुभव करते हुये सभी के जीवन में कभी न कभी ऐसा अनुभव होने लगता है "राम नाम सत्य है, सत्य बोले गत्य है" सभी जीव, आर्त्त आदि किसी भी भाव से संसार से कम या अधिक मात्रा में विरक्त हो ही जाते हैं, क्योंकि संसार में वास्तविक आनन्द-प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती। फिर जीव बेचारा करे ही क्या? यदि किसी भाग्यशाली को किसी वास्तविक महापुरुष का थोड़ा बहुत सत्संग प्राप्त हो जाता है, तब तो वह अत्यंत आसक्त भी निस्सन्देह भक्तिमार्ग का अधिकारी बन जाता है। भागवत कहती है :—

"न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः"

(स्कंध ११)

रूप गोस्वामी भी भक्ति मार्ग के अधिकारित्व के विषय में अपने "भक्ति रसामृत सिंधु" नामक ग्रन्थ में लिखते हैं "नातिसक्तः न वैराग्यभागस्यामधिकार्यसौ"।

यह ठीक है कि ईश्वर-प्रणिधान-रूपा साधन-भक्ति के द्वारा जीव, अन्तःकरण शुद्ध कर लेने पर ज्ञान मार्ग में प्रवेश करने का अधिकारी होता है, किन्तु यह भक्ति मार्ग है, भक्ति नहीं है। भक्ति दो प्रकार की होती है। एक साधन भक्ति, एवं दूसरी

फल रूप। प्रेमा भक्ति। जिस भक्ति को भक्तगण, ज्ञानियों की निर्विकल्प समाधि से भी सरस बताते हैं वह फल-रूपा प्रेमाभक्ति है। देखो भागवत :—

भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्''

(भा० ११-३-३१)

अर्थात् साधनभक्ति से उत्पन्न फलरूपा भक्ति के द्वारा···
··············।

अब यह विचार करना है कि ज्ञानी, ज्ञान मार्गके द्वारा मोक्ष या कैवल्य प्राप्त कर लेने पर भी, इस फलरूपा भक्ति में क्यों दीवाना हो जाता है? शब्दों में इसका उत्तर केवल इतना ही हो सकता है कि फलरूपा भकित में ऐसी कुछ विलक्षणता ही है। देखो भागवत। सूत जी प्रथम स्कंध में कहते हैं:—

''आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरि:''

(भा० १—७—१०)

अर्थात् अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले मायातीत, परम हंस भी श्रीकृष्णचंद्र-चरणारविन्दों में अनुराग करते हैं, क्योंकि सगुण साकर भगवान् श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी में ऐसी कुछ विचित्र विलक्षणता ही है। यह बात शब्दों में समझाने की नहीं है, क्योंकि तुम अभी दोनों ही रसों से अपरिचित हो। यह तो किसी ऐसे व्यक्ति को, वह भी केवल अनुभव रूप से ही समझ में आ सकती है, जो दोनों ही रसों को प्राप्त कर चुका हो।

आओ, अब तुम्हें हम इन दोनों ही रसों के प्राप्त-रसिकों के पास ले चलते हैं। चलो, सर्व प्रथम गुणावतार भगवान् शंकर के ही पास चलें। देखो! देखो!! वे शंकर भगवान् अपनी ज्ञान मार्गीय-निर्विकल्प समाधि को छोड़ कर रामावतार मे बाबाजी बने अयोध्या में चक्कर लगा रहे हैं। अरे! और देखो, वे ही भगवान् शंकर, श्रीकृष्णावतार में नन्द जी के दरवाजे पर अनंतकोटिकंदर्पलावण्ययुक्त बालकृष्णरूपमाधुरीपान के हेतु धन्ना दिये बैठे हैं। अब चलो, सृष्टिकर्ता गुणावतार ब्रह्मा के पास चलें। देखो! वे श्रीकृष्ण की अचिंत्य अघटित-घटना-पटीयसी योगमाया से मुग्ध हुये ब्रज में कुछ कहते हुये श्रीकृष्ण के समक्ष गिड़गिड़ा रहे हैं। ब्रह्माजी कहते हैं :—

"अहो भाग्यमहो भाग्यं नंदगोपब्रजौकसाम्
यन्मित्रं परमानंदं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्"

(भागवत १०-१४-३२)

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्याम्
यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव"

(भा० १०-१४-३४)

अर्थात् मैं इन ब्रजवासियों के भाग्य की क्या सराहना करूं, जिनका कि पूर्णतम पुरुषोत्तम ब्रह्म ही सनातन (सदा से) मित्र है। इत्यादि।

अब चलो, नित्य-जीवन्मुक्त-परमहंस-सनकादिकों के पास। देखो ! देखो !! वे सनकादिक वैकुण्ठ में भगवच्चरणारविन्द पर रखी हुई तुलसीमकरन्दसुगंधवायु के द्वारा किस प्रकार बेहाल हो रहे हैं।

"तस्यारविंदनयनस्य पदारविंद-
किंजल्कमिश्रतुलसीमकरंदसुगंधवायुः ।
अंतर्गतः स्वविवरेण चकार तेषाम्
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥" (भागवत)

अब चलो, देह के रहते हुये भी विदेह जनक परमहंस के पास। देखो ! देखो !! राघववेन्द्र सरकार को देखते हुये वे चिल्ला पड़े :—"बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा", "सहज विराग रूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द चकोरा"। अब चलो, उद्धव के पास। देखो ! देखो !! उद्धव का तो बड़ा ही बुरा हाल है। वे आँखों से आँसू बहाते हुये, भगवान् से कामना कर रहे हैं, कि वेदों से भी अप्राप्य जिस प्रेम रस का आस्वादन निरंतर ही ब्रज-गोपियां करती हैं, उसी प्रेम रस से परिप्लुत ब्रज-गोपियों की चरण-धूलि पाने के लिये मैं यदि वृन्दावन में कोई लता वृक्षादि भी बन जाता, तब भी अपना भूरि भाग्य समझता।

"आसामहो चरणरेणुजुषामहंस्याम्
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्" (भागवत १०-४७-६१)

अब चलो, जन्म के पूर्व से ही मायातीत शुकदेव के पास। सुनो! सुनो! वे कह रहे हैं, कि समस्त वेदान्त रसों का सार भगवन्नाम, लीला, गुणादि ही हैं। उस प्रेमरस में तृप्त व्यक्ति का अन्यत्र कहीं भी आकर्षण नहीं हो सकता।

"सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्"

अब देखो, स्वयं वेदव्यास को, जो अद्वैत सिद्धान्त 'ब्रह्म सूत्र' के रचयिता हैं। ब्रह्म-सूत्र बना कर भी अशान्त हैं। नारद जी पूछते हैं क्यों व्यास जी !क्या बात है? तुम ब्रह्म-ज्ञानी होकर भी अशान्त क्यों हो? व्यास जी कहते हैं कि यह तो मैं नहीं जानता, कि मैं क्यों अशान्त हूँ, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि अशान्त अवश्य हूँ। नारद जी ने कहा "अरे, इसकी औषधि तो बड़ी सस्ती सी है, तुम शीघ्र ही सगुण साकार भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं का गान प्रारम्भ कर दो" बस फिर क्या था, वह देखो! वेदव्यास जी बैठे-बैठे भागवत की रचना कर रहे हैं, तथा कह रहे हैं कि वह हृदय पत्थर है जो श्रीकृष्ण नाम गुण, लीलादिकों को गाता हुआ न पिघल जाय, एवं आँखों से आंसू न छलक पड़े, तथा शरीर में रोमांच न हो जाय। पढ़ो भागवत:—

"तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः
न विक्रियेताथ यदा विकारो

नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः"—(भा० २-३-२४)

अब आजाओ, शंकराचार्य के पास। देखो तो, अभी अभी वेदव्यास के ब्रह्म-सूत्र पर भाष्य करके चले आ रहे हैं। वे कुछ गा रहे हैं। चलो सुनें :—

"शुद्धयति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते"

अर्थात् बिना श्रीकृष्ण-चरण-कमलों के अवलंबन-रूप भक्ति के हृदय शुद्ध ही नहीं हो सकता। और सुनो, कह रहे हैं:—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्

सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः"

अर्थात् हे नाथ ! 'नाथ' शब्द निकल ही पड़ा। जीव एवं ब्रह्म में ब्रह्मसूत्र के अनुसार भेद न होने पर भी वास्तव में भेद है। वह यह कि तुम नाथ हो, मैं सेवक हूँ, तथा मैं तुमसे उत्पन्न हुआ हूँ, तुम मुझसे नहीं उत्पन्न हुये हो, क्योंकि समुद्र ही से तरङ्ग उत्पन्न होती है, कहीं भी तरङ्ग से समुद्र नहीं उत्पन्न होता। अरे ! अरे !! अब देखो, शंकराचार्य तो पागल हो गये। वे यदुनाथ श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे। वाह ! क्या ही सुन्दर शृङ्गार का वर्णन कर रहे हैं। अरे ! ये तो ब्रजरसिक प्रतीत होते हैं। ऐसे ही तो रसिक लोग छिपे रहते हैं। ब्रह्मसूत्र में कहते कुछ हैं किन्तु हृदय से करते कुछ हैं।

"यमुनानिकटतटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये।

कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरिस्थाप्य ॥

तिष्ठन्तंघननीलं स्वतेजसा भास्यन्तमिह विश्वम् ।
पीतांबरपरिधानं चंदनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम् ॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुन्डलयुगमंडितश्रवणम् ।
मंदस्मितमुखकमलं सकौस्तुभोदारमणिहारम् ।
वलयांगुलीयकाद्यानुज्वलयन्तं स्वलंकारान् ।
गलविलुलितबनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम् ॥
गुंजारवालिकलितं गुंजापुंजान्विते शिरसि ।
भुंजानं सह गोपैः कुञ्जांतर्बर्तिनं नमत ॥
मंदारपुष्पवासितमंदानिलसेवितं परानंदम् ।
मंदाकिनीयुतपदं नमत महानंददं महापुरुषम् ॥
सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं परितः ।
सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत ॥"

अर्थात् श्री यमुनाजी के तट पर स्थित वृन्दावन की किसी अति मनोहर बाटिका में कल्प वृक्ष के नीचे की भूमि पर चरण पर चरण रखे श्रीकृष्ण बैठे हैं। जो नवीन बादलों के सदृश श्याम वर्ण के हैं। जो अपने तेज से समस्त विश्व को प्रकाशित करते हैं। जो पीताम्बर पहने हुये हैं, एवं सारे शरीर में कपूर से मिश्रित चन्दन का लेप किये हुये हैं। जिनके कान पर्यन्त बड़े-बड़े नेत्र हैं। कान में सुन्दर कुण्डल सुशोभित हैं। मुखारविन्द मन्द मन्द मुस्करा रहा है। जिनके वक्षःस्थल पर कौस्तुभ-मणि युक्त सुन्दर मालाएं सुशोभित हो रही हैं। जो अपनी कांति से कंकण एवं अँगूठी आदि मनोहर गहनों की कांति को दूनी कर

रहे हैं। जिनके गले में बनमाला लटक रही है। जिन्होंने अपने तेज के प्रभाव से कलिकाल को नष्ट कर दिया है। जिनका गुञ्जावलि-अलंकृत मस्तक गूंजते हुये भँवरों से शोभायमान हो रहा है। किसी कुञ्ज के भीतर बैठकर ग्वाल बालों के साथ भोजन करते हुये उन श्रीकृष्ण का स्मरण करो। जो कल्प वृक्ष के फूलों की सुगन्धि से युक्त मन्द मन्द वायु से सेवित हैं। जो स्वयं परमानन्द स्वरूप हैं। जिनके चरणों में भगवती भागीरथी विराजमान हैं। उन परमानन्ददायक श्रीकृष्ण का स्मरण करो, जिन्होंने समस्त दिशाओं को सुगन्धित कर रखा है। जो सैकड़ों कामधेनु से भी सुन्दर गायों से घिरे हुये हैं। जो देवताओं के भय को दूर करने वाले एवं भयानक राक्षसों को भी भयभीत करने वाले हैं, उन यदुनन्दन का स्मरण करो।

वाह ! वाह !! क्या ही सुन्दर वर्णन है। सुना ! अब और सुनो, शंकराचार्य तो मत्स्यावतार आदि तक को भी अपना इष्ट-देव मानते हैं, तथा अपने आपको कहते हैं कि यद्यपि मैंने ब्रह्मसूत्र के भाष्य की रचना की है, किन्तु वास्तव में मैं भव-रोग से ग्रस्त हूँ। हे मत्स्यादि-अवतार वाले श्रीकृष्ण ! मुझ भवताप से डरे हुये अकिञ्चन को बचाओ।

"मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवता सदा वसुधाम्

परमेश्वर ! परिपाल्यो भवताभवतापभीतोऽहम्"

अरे ! इधर तो देखो, परिव्राजकाचार्य परमहंस मधुसूदन का क्या ही बुरा हाल हो रहा है। वे कह रहे हैं, कि मुझ परमहंसों

के दादा को भी किसी गोपी-अनुचर (श्रीकृष्ण) ने बरबस दास बना लिया।

"अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन"

अरे! अरे!! परमहंस जगन्नाथ दास की बात सुनकर तो तुम लोटपोट हो जाओगे। वे कह रहे हैं कि अरे पथिको! इस मार्ग से ही होकर मत गुजरो, क्योंकि यह मार्ग बड़ा ही खतरनाक है। कोई एक नीले रंग का नंगा बालक (बालकृष्ण) अपनी कमर पर हाथ रखे हुये भी मेरे प्राणों को हठात् खींचे ले रहा है।

"मा यात पान्थाः पथि भीमरथ्या दिगंबरः कोऽपि तमालनीलः
विन्यस्तहस्तोऽपि नितंवविंवे धूतः समाकर्षति चित्तवित्तम्"

इत्यादि २ अनेक उदाहरण हैं, जो पूर्व में ज्ञानियों के सिरमोर थे, किंतु पश्चात् श्रीकृष्ण-रूप-माधुरी में दीवाने बन गये। इन समस्त परमहंसों का दीवानापन ही स्पष्टतया यह बोध करा देता है, कि उस फल-रूपा प्रेमा-भक्ति में विचित्र विलक्षणता क्या है। समझे!

शरणागत—गुरुदेव! अब मैं यह भलीभांति समझ गया कि भक्ति ही सर्वोपरि रस है, किन्तु मैं अभी भक्ति-विषयक साधनों से अपरिचित हूँ। कृपया मुझे बताइये कि भक्ति किसे कहते हैं? भक्ति कितने प्रकार की होती है? भक्ति के विषय में क्या क्या जानना अपेक्षित है? इत्यादि भक्ति-साधना-संबंधी

समस्त बिषयों को विस्तार-पूर्वक समझाते हुये मेरे योग्य आदेश भी दीजिये।

गुरुदेव—अच्छी बात है। ध्यान देकर सुनो, तथा समझने की चेष्टा करो।

"सर्वाभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुच्यते"

अर्थात् मोक्ष-पर्यन्त की समस्त इच्छाओं से रहित, ज्ञान, कर्म, आदि व्यवधानों से रहित, अनुकूल भाव से श्रीकृष्ण का अनुशीलन (सेवन) ही भक्ति है। इसी भक्ति का स्वरूप नारद पञ्चरत्न नामक ग्रंथ में इस प्रकार बताया गया है।

"सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं, तत्परत्वेन निर्मलम्
हृषीकेश! हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते" (नारद पंच रत्न)

यहाँ पर "सर्वोपाधिबिनिर्मुक्त" से अभिप्राय है ज्ञान, कर्म, आदि व्यवधानों से रहित, तथा "निर्मलम्" से अभिप्राय है समस्त इच्छाओं से रहित, "तत्परत्वेन" से अभिप्राय है अनुकूल भाव से।

इसी प्रकार भागवतकार भी भक्ति का स्वरूप बताते हैं।

"अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे"

(भागवत तीसरा स्कंध)

यहाँ भी 'अहैतुकी' से अभिप्राय है समस्त इच्छाओं से रहित, एवं 'अव्यवहिता' से अभिप्राय है ज्ञान, कर्म आदि व्यवधानों से

रहित। इसी प्रकार अनेकानेक शास्त्रकारों ने भक्ति का स्वरूप बताया है। यह भक्ति षड्गुण सम्पन्न होती है।

"क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा
सान्द्रानंदविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा"

(भक्ति रसामृत सिंधु)

अर्थात् (१) पापों को नाश करने वाली (२) सुख देने वाली (३) मोक्ष सुख को भी तुच्छ कर देने वाली (४) भगवान् से भी बड़ी ही कठिनता-पूर्वक दी जाने वाली (५) करोड़ों ब्रह्मानंद से भी बढ़ कर रस वाली (६) श्रीकृष्ण को भी अपने वश में करने वाली, इन छहों गुणों से युक्त भक्ति होती है।

(१) क्लेशघ्नी :—

"क्लेशस्तु पापं तद्बीजमविद्या चात त त्रिधा" (भ० र० सि०)

अर्थात् क्लेश तीन प्रकार का होता है (क) पाप (ख) पाप का बीज (ग) अविद्या।

(क) पाप दो प्रकार का होता है :—(क-१) प्रारब्धजन्य (क-२) अप्रारब्धजन्य।

(क-२) अप्रारब्धजन्यपापक्लेशघ्नीभक्ति यथा—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः"

(भा० ११-१४-१६)

अर्थात् जैसे आग प्रदीप्त होकर समस्त लकड़ी को भस्म कर

देती है, उसी प्रकार मेरी भक्ति भी समस्त पापों को भस्म कर देती है।

(क-१) प्रारब्धजन्य पापक्लेशघ्नी भक्ति—यथा :—

"श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते" (भा० स्कंध ३)

(ख पापबीजक्लेशघ्नी-भक्ति—

"तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशांघ्रिसेवया" (भा० ६-२-१७)

अर्थात् तपश्चर्या, दान, व्रत, आदि से, जिन जिन पापों के प्रायश्चित्त के लिये वे किये जाते हैं वे पाप तो भस्म हो जाते हैं, किंतु पापों को पैदा करने वाला अशुद्ध हृदय शुद्ध नहीं हो पाता वह तो एकमात्र श्रीकृष्ण-भक्ति से ही शुद्ध होता है।

(ग) अविद्या-क्लेशघ्नी भक्ति—

"यत्पादपंकजपलाश विलास भक्त्या-
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति यः
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध.
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्"

(भा० स्कंध ४)

(२) शुभदा भक्तिः—

"शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः"

(भ० र० सि०)

अर्थात् शुभदा भक्ति से समस्त संसार के जीवों की तृप्ति होती है, एवं सभी जीवों से स्वाभाविक ही अनुराग होता जाता है, तथा समस्त सद्गुणों का विकास होता है, और सुख प्राप्त होता है।

(क) समस्त संसार को तृप्ति एवं अनुराग प्रदान करने वाली शुभदा भक्ति :—

"येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगंत्यपि
रज्यंति जन्तवस्तत्र स्थावरा जंगमा अपि" (पद्मपुराण)

अर्थात् जिसने भगवान् की उपासना कर ली, उसने समस्त संसार को तृप्त कर दिया, एवं जड़, चेतन, समस्त जीव उससे प्रसन्न हो चुके।

(ख) सद्गुणों को प्रदान करने वाली शुभदा भक्ति :—

"यस्यास्तिभक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः"

(भा० स्कंध ५)

अर्थात् जिसके पास एकमात्र भक्ति ही होती है उसके पास अपने आप समस्त दैवी-गुणों का निवास हो जाता है अन्य केवल दैवी गुणों के उपासकों के पास वे स्थिर रूप से नहीं रह सकते।

(ग) सुख प्रदान करने वाली शुभदा भक्ति:—

सुख तीन प्रकार का होता है।

(ग-१) सांसारिक विषयों के सुख (ग-२) ब्रह्म सुख (ग-३)

ईश्वरीय सुख। यथा :—

"सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती
नित्यं च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः"

अर्थात् अणिमादि आश्चर्य कारक सिद्धियाँ, मोक्ष तथा शाश्वती भक्ति एवं नित्य ही परमानन्द प्राप्ति, ये समस्त सुख एकमात्र श्रीकृष्ण भक्ति से ही प्राप्त हो जाते हैं।

(३) मोक्ष लघुताकृत् :—

"मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समंततः" (भ० र० सि०)

अर्थात् थोड़ा भी भगवान् के प्रति हृदय में वास्तविक अनुराग उत्पन्न हो जाने पर धर्म, अर्थ काम, मोक्ष, चारों ही पदार्थ तृण के समान प्रतीत होते हैं।

तथा—

"हरिभक्ति महादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः" (नारदपंचरात्र)

अर्थात् श्रीकृष्ण भक्ति रूपी महादेवी की, मुक्ति आदि समस्त सिद्धियाँ तथा समस्त सांसारिक ऐश्वर्य ऋद्धियाँ दासी बन कर नित्य दासता करती रहती हैं।

(४) सुदुर्लभा—

"साधनौघैरनासंगैरलभ्या सुचिरादपि
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात्सुदुर्लभा" (भ० र० सि०)

अर्थात् अनंतानंत निष्काम-साधनाओं से भी अलभ्य तथा

श्रीकृष्ण से भी शीघ्रता पूर्वक न दी जाने वाली यह सुदुर्लभा भक्ति दो प्रकार की होती है।

"ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा" (तंत्र)

अर्थात् ज्ञान से मुक्ति सुलभ है, एवं यज्ञादि पुण्य कर्मों से दिव्य स्वर्गीय भोग तक सुलभ हैं, किंतु यह हरि भक्ति तो हजारों साधनाओं से भी दुर्लभ है, अतएव भागवत में (पाँचवा स्कंध)

"मुक्ति ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्"

अर्थात् भगवान् के लिए मुक्ति दान करना तो अत्यंत ही सुलभ है, किंतु भक्ति तो वे किसी किसी को ही देते हैं।

(५) सांद्रानन्दविशेषात्मा:—

"ब्रह्मानंदो भवेदेष चेत्परार्धगुणीकृतः
नैति भक्तिसुखांभोधेः परमाणुतुलामपि" (भ०र०सि०)

अर्थात् अभिप्राय यह कि करोड़ों ब्रह्मानन्द मिलकर भी भक्ति-रस के एक बिन्दु की भी किञ्चत्-मात्र भी समानता नहीं कर सकते। अतएव :—

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो!" (हरिभक्ति सुधोदय)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! तुम्हारे दर्शनों के आनन्द में डूबे हुए मुझ को ब्रह्मानन्द के सुख भी गाय के खुर के समान लघु प्रतीत होते हैं।

(६) श्रीकृष्णाकर्षिणी :—

"कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता" (भ० र० सि०)

अर्थात् जो भक्ति, प्रियवर्ग से युक्त श्रीकृष्ण को अपने वश में कर लेती है वही श्रीकृष्णाकर्षिणी है।

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव !,,
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागः...... (भा ० स्कंध ११)

अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं हे उद्धव ! मुझे सांख्य, योग, धर्म, वेदाध्ययन, तपश्चर्या, त्याग, आदि कुछ भी वश में नहीं कर सकते जैसी कि मेरी भक्ति मुझे वश में कर लेती है।

भक्ति के तीन भेद

(१) साधन भक्ति
(२) भाव भक्ति
(३) प्रेमा भक्ति

(१) साधन भक्ति—साधन भक्ति दो प्रकार की होती है।
(क) वैधी (ख) रागानुगा।

हम सर्वप्रथम वैधी-भक्ति अर्थात् शास्त्र विधि के अनुसार की जाने वाली भक्ति का वर्णन करते हैं। ध्यान पूर्वक सुनो।

"स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः" (पद्मपुराण)

अर्थात् निरंतर श्रीकृष्ण का स्मरण करना चाहिये। उन्हें एक क्षण को भी न भूलना चाहिये। बस, इसी भक्ति-मार्गीय विधि-निषेध के ही दास, समस्त वैदिक विधि-निषेध बने रहते हैं।

भक्तिमार्ग का अधिकारी

"नातिसक्तो न वैराग्यभागस्यामधिकार्यसौ" (भ० र० सि०)

अर्थात् जो न तो अत्यंत आसक्त हो, न अत्यंत विरक्त हो वह भक्ति मार्ग का अधिकारी होता है।

वैधी भक्ति मार्ग के अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं।

(१) उत्तम (२) मध्यम (३) कनिष्ठ।

"उत्तमो मध्यमश्चैव कनिष्ठश्चेति तत्त्रिधा"

(१) उत्तम अधिकारी—

"शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढनिश्चयः

प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः" (भ० र० सि०)

अर्थात् जो शास्त्र एवं युक्ति दोनों ही में निपुण होता है, तथा जो सब प्रकार से दृढ़ निश्चय वाला होता है, एवं जिसकी श्रद्धा प्रगाढ़ होती है, वही भक्ति मार्ग का उत्तम अधिकारी है। ऐसे अधिकारी पर कुसंग अथवा तार्किकों के वग्जाल का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, अतएव वह साधना में प्रतिक्षण अग्रसर होता जाता है।

(२) मध्यमाधिकारी—

यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान्स तु मध्यमः (भ० र० सि०)

अर्थात् जो शास्त्र एवं युक्ति में निपुण नहीं होता, किन्तु श्रद्धावान् होता है, वह भक्ति मार्ग का मध्यम अधिकारी है। शास्त्र

एवं युक्ति के द्वारा तत्वज्ञान दृढ़ न होने के कारण तर्कवादियों के वाग्जाल द्वारा उसका पतन हो सकता है, वह श्रद्धा के बल पर ही टिका रहता है। यदि कुसंग न मिला तब तो वह श्रद्धा से ही लक्ष्य पर पहुँच जाता है, किन्तु कुसंग के मिलने पर वह स्वयं संशयात्मा बन कर निराश तथा भ्रष्ट हो जाता है।

(३) कनिष्ठ अधिकारी—

"यो भवेत्कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते" (भ० र० सि०)

अर्थात् जो साधारण-श्रद्धा से युक्त होता है, एवं शास्त्र तथा युक्ति से सर्वथा ही अपरिचित होता है, वह भक्ति मार्ग का कनिष्ठ अधिकारी है, उसके पास शास्त्र एवं युक्ति के बल का तो सर्वथा ही अभाव है, साथ ही श्रद्धा भी अल्प है, अतएव ऐसे अधिकारी के पतन की प्रतिक्षण विशेष आशंका है। ऐसे साधक किंचित् भी कुसंग-प्राप्ति से तथा किंचित् भी तार्किकों के वाग्जाल से पथ-भ्रष्ट हो जाते हैं।

अतएव साधक को शास्त्र एवं युक्ति से युक्त तथा दृढ़ निश्चय वाला होकर प्रगाढ़ श्रद्धावान् होना चाहिये, तभी वह निर्भयता पूर्वक निस्सन्देह शीघ्र ही लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

"तत्र गीतादिषूक्तानां चतुर्णामधिकारिणा
मध्ये यस्मिन्भगवतः कृपा स्यात्तत्प्रियस्यवा
स क्षीणतत्तद्भावः स्याच्छुद्धभक्त्यधिकारवान्
यथेभः शौनकादिश्च ध्रुवः स च चतुःसनः" (भ० र० सि०)

अर्थात् गीतादि में जो चार प्रकार के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, एवं ज्ञानी, भक्त बताये गये हैं, उदाहरणार्थ-क्रमशः गजराज, शौनकादि, ध्रुव, सनकादिक, इन चारों पर जब कभी भगवान् अथवा किसी रसिक की कृपा हो जाती है, तब उनके आर्त आदि भाव क्षीण हो जाते हैं, एवं वे शुद्ध-भक्ति के अधिकारी हो जाते हैं। अर्थात् यदि ऐसा सामंजस्य किसी प्रकार बन जाता है, तब वे भी आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी, भाग्यशाली बन कर शुद्ध भक्ति का रस पी लेते हैं, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह कि प्रत्येक व्यक्ति को विशुद्ध भक्ति पर ही विशेष लक्ष्य रखना चाहिये। गीतादि में कही हुई उपरोक्त चार प्रकार की भक्ति पर नहीं, क्योंकि यदि किसी रसिक की कृपा न हुई, तो फिर हम वास्तविक करोड़ों ब्रह्मानन्द से सरस ब्रजरस से बंचित रह जांयगे। यह परम सूक्ष्म एवं अंतरङ्ग रहस्य है। हाँ, तो यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि मोक्ष पर्यन्त की इच्छाओं को करना भक्ति रस से बंचित होना है। (अतएव रसिक कहते हैं)

"भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्"

अर्थात् जब तक साधक के हृदय में ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुख भोग, एवं मोक्ष रूपी दो पिशाचिनियां निवास करती हैं, तब तक किसी भी प्रकार वास्तविक भक्तिरस का प्राकट्य नहीं हो सकता। भागवत में नागपत्नियों की स्तुति पढ़िये :—

"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यम्

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः"

(भा० स्कंध१०)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण ! जो तुम्हारे चरणारविन्द-मकरंद के मधुप रसिकजन हैं, वे स्वर्ग का सुख, चक्रवर्ती सम्राट् का पद, रसातल का पद, इन्द्र का पद, ब्रह्मा का पद, अणिमादि-सिद्धियों के सुख एवं मोक्ष तक को नगण्य सम ।

मारुति हनुमान् जी की उक्ति कितनी अनूठी है :—

"भवबन्धच्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये
भवान्प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते"

अर्थात् हे राघवेन्द्र सरकार ! मैं भव-रोग को नष्ट करने वाली उस मुक्ति को भी नहीं चाहता, जिसमें "आप स्वामी हैं मैं दास हूँ" यह भाव नष्ट हो जाता है । भागवत कहती है :—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः
सुदुर्लभः प्रशांतात्मा कोटिष्वपि महामुने !" [भा० स्कंध ६]

अर्थात् सिद्ध-जीवन्मुक्त-परमहंसों में भी करोड़ों में कोई कोई ही परमहंस, श्रीकृष्ण-प्रेमरस का पान कर पाता है, शेष प्रेम-रस से वंचित ही रह जाते हैं ।

पुनः भागवत में धर्मराज की माता जी कहती हैं: —

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः"

इत्यादि, अनन्त प्रमाणों से सिद्ध है कि भक्ति-भाव-रस-भावित-महानुभाव मोक्ष तक की इच्छा नहीं रखते, जबकि मोक्ष-

प्राप्त परमहंस इस प्रेमरस के लिये सदा ही लालायित रहते हैं। तुलसी के शब्दो में—.........

"जीवन्मुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरिकथा न करहिं रति, तिनके हिय पाषान॥"

तथा तुलसी के ही शब्दों में :—

"जेहि खोजत योगीश मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥"

इत्यादि,

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि ऐसे उत्तमभक्ति के अधिकारी को भी कर्म करना आवश्यक है, किंतु ऐसी बात नहीं है :—

"अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यंगानां प्रजायते
न कर्मणामकरणादेष भक्त्यधिकारिणाम्
निषिद्धाचारतो दैवात् प्रायश्चित्तं च नोचितम्"

(भ० र० सि०)

अर्थात् ऐसे उत्तम अधिकारियों को कर्म के परित्याग में दोष नहीं लगता, किंतु भक्ति के अंगों का समुचित परिपालन न होनें से अवश्य दोष लगता है। ऐसे उत्तम-अधिकारी की प्रथम तो निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्ति ही असंभव है, यदि दैववश से ऐसा हो भी जाय तो उसे अन्य धर्मादि-प्रायश्चित्तों की आवश्यकता नहीं। प्रायश्चित्त तो भक्ति के द्वारा ही हो जायगा। इसी से तो महापुरुषों ने भक्ति को स्वतंत्र कहा है। वह किसी भी कर्म, ज्ञानादि आवरण की अपेक्षा नहीं रखती, स्वयं ही सब कुछ कर लेती है। मैंने पूर्व में ही भक्ति की परिभाषा करते हुये बता दिया है "ज्ञानकर्माद्यनावृतं"

अर्थात् भक्ति में ज्ञान, कर्म, यज्ञ, दान, योग, तपस्या, आदि का आवरण नहीं होता। तुलसी के शब्दों में भी:—

"भक्ति स्वतंत्र सकल सुख खानी"

"तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना";

"त्यागहिं कर्म शुभाशुभ दायक"

आदि विविध प्रमाण हैं। भागवत कहती है:—

"आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान्
धर्मान्संत्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तमः"

(भा० ११ स्कंध)

अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वर्णाश्रम-व्यवस्था का विधि-निषेधात्मक विधान मेरा ही बनाया हुआ है, किन्तु जो उसे छोड़कर एकमात्र मेरा ही भजन करता है, उसे कर्मों के परित्याग का दोष नहीं लगता, एवं वह मेरा अत्यन्त प्रिय हो जाता है।

किन्तु यह स्मरण रहे कि यदि भगवदाराधना भी नहीं करता, एवं उन विधिनिषेधात्मक भगवद्विधान का भी परित्याग कर देता है, तो वह विधान के अनुसार ही दण्डनीय होगा। यह नियम तो एक विशेष नियम है कि भगवान् के निमित्त उसने समस्त धर्मों का परित्याग किया है, अतएव यह सर्वथा क्षम्य एवं भगवत प्रिय है। भागवत कहती है:—

"देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्!

"सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्"

(भा० ११ स्कंध)

अर्थात् जो विधिनिषेधात्मक धर्मों का परित्याग करके सर्व-भाव से मेरी ही शरण हो जाता है, उसके लिये देवऋण, ऋषि-ऋण, पितृऋण, एवं अन्य भूतऋण, वेदऋण, मनुष्यऋणादि के बंधनों से छूटने का आवश्यक नियम लागू नहीं होता। वह इन ऋणों का दास नहीं माना जाता। यह भी एक विशेष नियम है। किन्तु जो उच्छृंखलतावश शरणागत न होते हुये भी विधि-निषेधात्मक विधान का परित्याग करेगा, वह विधान के अनुसार ही दण्डनीय होगा। यदि साधक भक्त, जो एकमात्र श्रीकृष्ण के ही शरणागत है, कदाचित् कुछ पाप-कर्म कर भी जाता है तो अकारण-करुण भगवान् श्रीकृष्ण उसके हृदय में प्रविष्ट होकर उस विकार को नष्ट कर देते हैं, एवं उसको फिर उठा लेते हैं। यही तो उनकी दयालुता है, तथा यही तो महापुरुषों के योगक्षेम वहन करने का अन्तरङ्ग रहस्य है। चलते चलते यदि कदाचित् बच्चा गिर जाता है, तब पुत्रवत्सला अम्बा अधीर होकर तत्क्षण ही उसे उठा लेती है, क्योंकि वह बालक तो एकमात्र माता के ही ऊपर निर्भर है, किन्तु यदि संपूर्ण-भाव से शरणागत नहीं है, नाटकीय रूप से ही शरणागति का स्वांग रचता है, तब योगक्षेम वहन करने का विधान लागू नहीं होता। उसके उत्थान, पतन के विषय में तटस्थ हो कर कर्मानुसार ही भगवान् फल प्रदान करते हैं। यह एक गूढ़तम रहस्य है।

अतएव शरणागत-साधक को अन्य किसी भी कर्मादि की अपेक्षा नहीं, उसे तो केवल अपने भक्तिमार्ग-संबंधी विधि-निषेधों का ही पालन करना चाहिये। संक्षेप में विधि यह है :— "स्मर्तव्यः सततं कृष्णः" अर्थात् निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करना चाहिये, तथा निषेध यह है :—"विस्मर्तव्यो न जातुचित्" अर्थात् श्रीकृष्ण को कभी न भूलना चाहिये जो शरणागत भक्त इस विधि-निषेध का पालन करता है, उसके लिये किसी भी अन्य लौकिक, वैदिक, विधि-निषेध की अपेक्षा नहीं। इसीसे तो भागवतकार वैष्णव (भक्त) का लक्षण करते हुये कहते हैं, यथा :—

"त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ,
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्
न चलति भगवत्पदारविंदा,
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः"

अर्थात् जिसका मन भगवच्चरणारविन्दों से एक क्षण को भी, समस्त त्रैलोक्य की संपत्ति एवं मोक्षादि के पाने पर भी विचलित न हो सके, वही श्रेष्ठ वैष्णव है। अर्थात्, तैलधारावत् अविच्छिन्न-रूप से श्रीकृष्ण-रूप-माधुरी का मधुप, भावुक ही, वैष्णव कहलाने योग्य है। कदाचित् तुम यह कहो कि निरन्तर स्मरण कैसे होगा? तथा कौन कर सकेगा? सो यह बात नहीं है। सिद्ध महापुरुष निरन्तर स्मरण करते हैं। वे सांसारिक कार्य करते हुये भी अपने ही स्वरूप में रहते हैं, यहाँ तक कि युद्धादि विपरीत

कार्य करते हुये भी अर्जुन, हनुमान् , बलरामादि निरन्तर भगवान् का स्मरण करते हैं। यह भगवान् की अचिन्त्य योगमायाशक्ति का प्रभाव है। जिसका पक्का प्रमाण अनुभव के द्वारा ही प्राप्त होता है।

अब हम तुम्हें भक्ति के चौंसठ अंगों में से कुछ प्रमुख अंङ्गों को कतिपय उदाहरणों द्वारा समझाते हैं।

सद्गुरु-शरणागति :—

"तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तम,

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्" (भा० ११ स्कंध)

अर्थात् सर्वप्रथम श्रद्धा युक्त होकर जिज्ञासु शिष्य को गुरु की शरणागति ग्रहण करनी चाहिये, किंतु गुरु ऐसा होना चाहिये, जो शिष्य को भगवत्तत्व का बोध भी करा सके, एवं स्वयं अनुभूत भी हो।

विश्वास-पूर्वक गुरु की सेवा :—

"आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः" (कात्यायन संहिता)

अर्थात् भगवान् कहते हैं कि अपने गुरु को मेरा ही रूप समझो। कभी भी, भूल कर भी, अपमान न करो, न तो मनुष्य की बुद्धि से ही गुरु को नापो, क्योंकि गुरु मनुष्य नहीं है, उसके हृदय में तो भगवान् स्वयं निवास करते हैं, अतएव गुरु सर्वदेव-मय होता है।

श्रीकृष्ण-विमुख-संग-त्यागः—

"वरं हुतवहज्वालापंजरान्तर्व्यवस्थितिः
न शौरिचिन्ताविमुखो जनसंवासवैशसम्"
"आलिंगनं वरं मन्ये व्यालव्याघ्रजलौकसाम्
न संगः शल्ययुक्तानां नानादेवैकसेविनाम्" (विष्णु पुराण)

अर्थात् धधकती हुई आग की ज्वाला-युक्त पिंजड़े में जलना ठीक है, किंतु भगवद्विमुखके संग, महान् से महान् इन्द्रादि लोकों में भी रहना ठीक नहीं, तथा भयङ्कर सांपों, सिंहों, एवं जोंकों से लिपट जाना अच्छा है, किन्तु अनंतानंत देवताओं से भी सेवित भगवद्विमुखों का संग करना ठीक नहीं है।

बहु-शिष्यादि करने का निषेध :—

"न शिष्याननुवध्नीत न ग्रन्थानभ्यसेद्बहून्
न व्याख्यामुपयुंजीत नारंभानारभेत् क्वचित्" (भा० स्कंध ७)

अर्थात् अधिकारी, अनधिकारी, का विचार न करते हुये साम्प्रदायिकता में आकर अनेकानेक शिष्य न करना चाहिये। वस्तुतस्तु भगवत्प्राप्ति के पूर्व, शिष्य समुदाय जोड़ना, अपने आप को पतन के गर्त में डालना है। अनेक प्रकार के मतों से युक्त अनेकानेक ग्रंथों का अध्ययन भी न करना चाहिये, तथा अनुभव के पूर्व ग्रंथों पर टीका, टिप्पणी भी न करनी चाहिये। औपाधिक किसी विशेष आरम्भ को भी न आरम्भ करना चाहिये।

सान्सारिक सुखों या दुःखों के आने पर भी साधना न छोड़ना :—

"अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने
अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत्" (भा॰ स्कंध ७)

अर्थात् खान, पान, कपड़े, आदि सांसारिक व्यावहारिक वस्तुओं के पाने एवं न पाने दोनों ही अवस्थाओं में असावधान या खिन्न न होते हुये निरंतर भगवान् का ही स्मरण करना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि साधक सांसारिक कष्टों में भी घबड़ा कर साधना छोड़ बैठते हैं, अतएव यह समझ लेना परमावश्यक है कि सांसारिक सुख तो उन्माद उत्पन्न करता है, अतएव त्याज्य है, तथा दुःख, भगवत्कृपा है, अतएव ग्राह्य है। हम दोनों ही अवस्थाओं में साधना से च्युत न हों। नियमानुसार सुख एवं दुःख दोनों ही की अवस्थायें कम या विशेष-मात्रा में प्रत्येक जीव को प्राप्त होती रहती हैं।

ब्रह्मादिकों का अपमान न करना :—

"हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः
इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन"

(पद्म पुराण)

अर्थात् श्रीकृष्ण, समस्त देवताओं के ईश्वर के भी ईश्वर हैं, ऐसा समझ कर उपासना तो एकमात्र उन्हीं की करनी चाहिये, किन्तु साथ ही ब्रह्मा, शंकर आदि का अपमान भी न करना

चाहिये। अन्यथा नामापराध-रूप अमिट पाप हो जायगा।। तात्पर्य यह कि अन्य समस्त शक्तियों को भगवान् के भीतर ही समझ कर अपने इष्टदेव का स्मरण ही करना चाहिये। अपमान या द्वेष तो निन्दनीय के प्रति भी न होना चाहिये, किन्तु निन्दनीय से उदासीन अवश्य हो जाना चाहिये।

हरि एवं हरिजन की निन्दा न सुनना :—

"निंदां भगवतः शृण्वन् तत्परस्य जनस्य वा
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः सुकृताच्च्युतः"

(भा० स्कंध १०)

अर्थात् भगवान् एवं उनके भक्तों का निन्दा कभी भूल कर भी न सुननी चाहिये, अन्यथा साधक का पतन हो जायगा, तथा उसकी सत्प्रवृत्तियाँ भी नष्ट हो जायँगी। प्रायः अल्पज्ञ-साधक किसी महापुरुष की निन्दा सुनने में बड़ा ही शौक़ रखता है, वह यह नहीं सोचता कि निन्दा करने वाला स्वयं निन्दनीय है, या महापुरुष है। संत-निन्दा सुनना नामापराध है। वास्तव में तो ये ही सब अपराध अनादि काल से जीव को सर्वथा भगवान् के उन्मुख ही नहीं होने देते। जिस प्रकार कोई पूरे वर्ष दूध, मलाई, रबड़ी, आदि खाय, एवं इसके पश्चात् ही एक दिन विष खा ले, तथा मर जाय। अतएव बड़ी ही सावधानी-पूर्वक सतर्क होकर हरि, हरिजन-निन्दा-श्रवण से बचना चाहिये।

स्मरण रहे, कि हजारों वर्षों की साधना मिल कर भी जीव को

जितनी मात्रा में ऊंचा उठाने में समर्थ नहीं, उतनी मात्रा में एक क्षण की भी कुसंगति पतन कराने में समर्थ है। देखो, अजामिल पूर्व में कितना महान् धार्मिक था, जितेन्द्रिय था, किंतु एक क्षण के ही कुसंग ने उसको उस स्थान पर पहुँचा दिया, जहां पहुँच कर अजामिल, पतन का एक ऐतिहासिक प्रमुख-उदाहरण बन गया।

शरणागत—गुरुदेव? अपराध क्षमा हो, बीच में बोल रहा हूँ। यदि आपके कथनानुसार कुसंग एक क्षण का भी इतना घातक है, तो, कृपया विस्तार-पूर्वक कुसंग का स्वरूप समझा दीजिये, जिससे हम अल्प-बुद्धि वाले भी कुसंग से सावधान रह सकें।

गुरुदेव—अच्छा सुनो।

कुसंग का स्वरूप

संसार में सत्य एवं असत्य केवल दो ही तत्व हैं, जिनके संग को ही सत्संग एवं कुसंग कहते हैं। सत्य पदार्थ हरि एवं हरिजन ही हैं, यह हमने पूर्व में ही समझा दिया है। अतएव केवल हरि, हरिजन का मनबुद्धियुक्त सर्व-भाव से संग करना ही सत्संग है, तथा उसके विपरीत यावन्मात्र अवशिष्ट विषय हैं, सतोगुण, रजोगुण, एवं तमोगुण से युक्त होने के कारण मायिक हैं, अतएव असत्य हैं। तात्पर्य यह कि जिस किसी भी संग के द्वारा हमारा भगवद्विषय में मनबुद्धियुक्त लगाव हो वही सत्संग है, इसके अतिरिक्त समस्त विषय कुसंग है। यह कुसंग कई प्रकार का होता है। कुसंग में पड़ जाने पर स्वयं मन-बुद्धि का भी तदनुकूल ही निर्णय हो जाता है, जिससे साधक स्वयं अपनी बुद्धि से यह निर्णय नहीं कर पाता कि मैं कुसंग में पड़ गया हूँ। जिस प्रकार शराब के नशे की मात्रानुसार ही बुद्धि भी नशे से युक्त होती जाती है, उसी प्रकार कुसंग की मात्रानुसार ही बुद्धि भी नष्ट होती जाती है। एक शराबी नशे में धुत्त, नाली में पड़ा हुआ हो, एवं उससे कोई पूछे, कि तुम यहां कैसे पड़े हो? अपनी कोठी पर क्यों नहीं जाते? वह नशे में चूर शराबी कहता है, "अरे यार! मैं अपनी ही कोठी में तो हूँ"। अब तुम सोचो कि क्या वह शराबी, बन कर बात कर रहा है? अर्थात् क्या वह बातें बना रहा है? नहीं, नहीं;

उसने तो शराब के नशे में ही विभोर, अपनी पूरी बुद्धि की शक्ति लगादी है, किन्तु जब बुद्धि ही नष्ट हो चुकी है, तब वह बेचारा करे ही क्या ! ठीक इसी प्रकार हम, जब तीनों गुणों रूपी कुसंगों के चक्कर में पड़ जाते हैं, तब हमारी बुद्धि भी नष्ट हो जाती है, उस नष्ट बुद्धि से यह निर्णय नहीं किया जा सकता, कि वास्तव में ही हम कुसंग कर रहे हैं।

दूसरी बात यह है कि जीव में जब तक देहाभिमान है, तब तक वह आसानी के साथ स्वयं अपने आप को कभी भी गिरा हुआ नहीं मानता। अतएव, नित्य होश में रहने वाले एक महापुरुष की आवश्यकता होती हैं, जो कि उस बेहोश साधक की त्रुटियों को बता बता कर उसे होश में लाता रहता है, अन्यथा जीव तो सदा ही अपने को अच्छा समझता है, वह भले ही पराकाष्ठा का मूर्ख क्यों न हो, उसे यह शब्द बिलकुल ही प्रिय नहीं है "तुम मूर्ख हो।"

तात्पर्य यह कि तीनों गुणों से अभिभूत-बुद्धि प्रतिक्षण स्वतः परिवर्तनशील है, उसका नियामक गुणातीत एक महापुरुष अवश्य होना चाहिये।

कुसंग का बीज प्रत्येक देहाभिमानी-जीव के अन्तःकरण में नित्य निहित रहता है, एवं वह अपने अनुकूल बाह्य-गुणविषय को पाकर अत्यंत बढ़ जाता है। तुम अनुभव करते होगे, दिन में कई बार ऐसा होता है कि तुमको जैसा भी वातावरण मिलता है, वैसी ही तुम्हारी मनोवृत्तियाँ भी बदलती जाती हैं। कभी तो यह

बिचार होता है कि अरे ! पता नहीं, कब टिकट कट जाय, शीघ्र से शीघ्र कुछ साधन कर लेनी चाहिये, संसार तो अपने आप छोड़ेगा नहीं, फिर संसार ने पकड़ भी तो नहीं रखा है, मैं स्वयं ही जा जा कर उसमें (संसार में) पिच रहा हूँ।

कभी यह बिचार उत्पन्न होता है "अरे ! कर लेंगे, जल्दी क्या है, बहुत समय पड़ा है, ऐसी भी क्या जल्दी है, फिर अभी अमुक अमुक संसार का काम (ड्यूटी) भी तो करना है, रात तक कर लेंगे, कल कर लेंगे" इत्यादि। कभी कभी यह बिचार पैदा होता है "अरे यार खाओ, पियो, मौज उड़ाओ, चार दिन की जिन्दगी है, आगे किसने देखा है, क्या होगा। भगवान् बगवान् तो बिगड़े हुये दिमाग़ की उपज है। पता नहीं कि वह मौज उड़ाने का क्या अर्थ समझता है। अरे ! मौज ही तो महापुरुष भी चाहता है।

अस्तु यह सब अन्तरङ्ग-गुण-वृत्तियों का दैनिक परिवर्तन-शील अनुभव है, जिसे तुम भली-भांति समझते होगे। अब यह देखो, कि उपरोक्त रीति से अपनी ही मनोवृत्तियाँ कैसे बदल जाती हैं। किसी क्षण में मान लो कि तुम्हारी मनोवृत्ति यह हुई कि मै चलूं, कुछ साधना कर लूं, इतने में ही रजोगुण या तमोगुण आदि का वातावरण-विशेष मिल गया, अर्थात् स्त्री, पुत्रादि का आसक्ति बर्धक कुछ विषय मिल गया, अथवा किसी ने अपमान आदि कर दिया, बस, फिर क्या था, हमारी मनोवृत्ति उन गुणों के वातावरण को पाकर फिर बदल गई, एवं हम तत्क्षण ही

साधना से च्युत हो गये। यह सब अन्तरंग-त्रिगुण एवं बहिरंग सामग्री की महिमा है।

अब सोचो, कि जब अन्दर भी त्रिगुण युक्त मनोवृत्तियों का कुसंग भरा है, तथा बाहर भी निन्नानवे प्रतिशत कुसंग के ही वातावरण विशेष मिलते हैं, साथ ही अनन्तानन्त जन्मों से कुसंग का अभ्यास भी पड़ा हुआ है, तब फिर भला जीव का कल्याण कैसे हो। तुलसी के शब्दों में क्या ही सुन्दर चित्रण है:--

"ग्रह गृहीत पुनि बात वश, ता पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुणी, कहिय कहा उपचार॥"

अर्थात् एक तो बन्दर स्वभावतः चंचल, दूसरे उसे वायुरोग (Histeria) तीसरे उसे बिच्छू ने डंक मार दिया, चौथे उसे शराब भी पिला दी गई, अब विचार करो, उस बन्दर की क्या दशा होगी। यही बात जीवों के विषय में भी है। एक तो अनादि काल का पापमय जीव, दूसरे कुसंस्कार जन्य कुप्रवृत्तियाँ, तीसरे कुसंग के बाह्य वातावरण, चौथे बुद्धि का तीनों ही गुणों के वशीभूत होकर नशे में हो जाना, अब इस बेचारे जीव रूपी बन्दर का भगवान् ही भला करें !!!

किंतु घबड़ाने की बात नहीं, अभ्यास करते करते सब ठीक हो जायगा। एक महान् जंगली शेर भी बिजली के दंड (हण्टर) के इशारे पर नाचता है। देखो, साधक सर्वप्रथम अपनी बुद्धि

को ही ठीक करें, क्योंकि गीताकार के सिद्धान्तानुसार "बुद्धि नाशात् प्रणश्यति" अर्थात् बुद्धि के विकृत होने से ही जीव का पतन होता है। हाँ, तो साधक ने अपनी बुद्धिको जब महापुरुष एवं भगवान् के ही हाथ बेचा है, तब उसे अपनी बुद्धि को महापुरुष के आदेश में ही सम्बद्ध रखनी चाहिये। लोक मे भी देखो, एक कूपमंडूक अत्यंत मूर्ख-ग्रामीण भी अपने मुक़दमे में किसी व्युत्पन्न वकील के द्वारा प्रमुख क़ानूनी विषयों को अपनी बुद्धि मे रख कर धुरंधर वकील की जिरह में भी नहीं उखड़ता।

कुछ लोगों का कहना है कि इसमें क्या रखा है, यह तो अत्यन्त ही साधारण सी बात है। साधक मन-बुद्धि को निरंतर भगवद्विषयों में लगाये रहे, तो बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों ही कुसंग न व्याप्त होंगे, किंतु निरंतर भगवद्विषयों में मन बुद्धि का लगाव पूर्व में सहसा नहीं हो सकता, वह तो धीरे धीरे अभ्यास के द्वारा ही होगा। तुलसी के शब्दों में:—

"कहत सुगम करनी अपार, जाने सोइ जेहि बनि आई,,

यह कुसंग भी कई प्रकार का होता है। एक तो भगवद्विषयों से विपरीत विषयों का पढ़ना, दूसरे सुनना, तीसरे देखना, चौथे सोचना आदि। किन्तु इन सब में सब से भयानक कुसंग सोचना ही है, क्योंकि अन्त में पढ़ने, सुनने एवं देखने आदि वाले कुसंग भी यहीं पर आ जाते हैं। फिर यहीं से कार्रवाई आरम्भ हो जाती है। सोचते सोचते मनोवृत्तियाँ उसी के अनुकूल होती जाती हैं, एवं

बुद्धि भी मोहित होती जाती है, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि कुछ काल बाद पूर्णतया उन विपरीत विषयों में संग हो जाता है। मुझे इस सम्बन्ध की गीता ही की अधोनिर्दिष्ट अर्धाली अत्यंत ही प्रिय है :—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते" (गीता)

अर्थात् जिस विषय का हम बार बार चिंतन करते हैं, उसी में हमारी आसक्ति हो जाती है।

किन्तु, ध्यान में रखने की बात यह है, कि चिंतन तो पश्चात् होता है, पूर्व में तो भगवद्विपरीत विषयों का सुनना, पढ़ना, आदि है। अतएव, यदि पूर्व कारण से बचा जाय तो अत्यंत ही सरलता-पूर्वक कुसंग से निवृत्ति हो सकती है। यदि आग को लकड़ी न मिले तो वह कैसे बढ़ेगी। अर्थात्, यदि अन्तरङ्ग ि गुण-रूपी अग्नि को बहिरंग वातावरण रूपी लकड़ी न मिले, तो अग्नि कैसे बढ़ेगी। फिर यदि साथ ही में उस अन्तरंग कुसंग-रूपी आग में श्रद्धायुक्त सत्संग-रूपी जल भी छोड़ा जाय, तब तो आग धीरे धीरे स्वयं ही बुझती जायगी। देखो, प्रायः हम लोग यह सब जानते हुये भी बहादुरी दिखाने का स्वाँग रचते हैं, अर्थात् कुसंग की प्रारम्भिक अवस्था में ही सावधान न होकर यह कह देते हैं "अरे! कुसंग हमारा क्या कर लेगा, हम सब कुछ समझते हैं" अरे भाई! विचार करो कि यद्यपि डाक्टर यह समझता है कि अमुक विष मारक है, किंतु यदि वह परिहास में

भी पी लेता है तो उसका वह जानना थोड़े ही काम देगा, विष तो अपना मारक गुण दिखायेगा ही।

अतएव, साधारण कुसंग को भी साधारण न समझना चाहिये, वरन् इसे अत्यंत महान् शत्रु समझ कर तब तक इससे दूर रहना चाहिये, जब तक वह शुभ मुहूर्त न आ जाय। तुलसी के शब्दों में :—

"अब मैं तोहिं जान्यो संसार
बांधि न सकइ मोहिं हरि के बल, प्रकट कपट आगार
सहित सहाय तहाँ बसु शठ जेहि, हृदय न नन्द कुमार"

अर्थात् हे संसार! अब मैं तुझे भलीभाँति समझ गया। अब तू मुझे किसी भी प्रकार नहीं बांध सकता, क्योंकि मेरे पास श्रीकृष्ण का बल है। अरी माया! अब तू अपने दल-बल को लेकर वहाँ जाकर अपना डेरा जमा, जिसके हृदय में नन्दकुमार का बास न हो, यहाँ अब तेरी कुछ भी दाल न गल सकेगी। तात्पर्य्य यह कि भगवत्प्राप्ति के पूर्व किसी भी जीव को यह दावा करने का अधिकार नहीं है कि कुसंग मेरा कुछ भी नहीं कर सकता। यह तो सिद्ध महापुरुषों के ही क्षेत्र की बात है कि उनके ऊपर कुसंग का प्रभाव नहीं पड़ सकता। "चन्दन विष ब्यापै नहीं, लिपटे रहत भुजंग" इस रहीम की उक्ति के अनुसार सिद्ध महापुरुष-रूपी चन्दन के वृक्ष में ही कुसंग-रूपी साँपों के विष का प्रभाव नहीं पड़ता।

अब कुछ कुसंग ऐसे भी सुनो, जो सिद्धान्ततः तो कुसंग नहीं है, किन्तु जीव उनके द्वारा कुसंग कमा बैठता है।

अनेकानेक शास्त्रों, वेदों, पुराणों एवं अन्यान्य धर्मग्रंथों को पढ़ना भी कुसंग है। चौंको मत ! बात समझो। कारण यह है कि वे महापुरुषों के प्रणीत ग्रंथ हैं, अतएव उन्हें हम भगवत्-प्रणीत-ग्रंथ भी कह सकते हैं। उनका वास्तविक तत्त्व, अनुभवी महापुरुष ही जानते हैं। तुम उन्हें पढ़कर अनंतानंत प्रश्न पैदा कर बैठोगे, जिनका कि समाधान अनुभव के बिना संभव नहीं। यदि किसी मात्रा में संभव भी है, तो वह एकमात्र महापुरुष के द्वारा ही। अतएव, हमारे यहां के प्रत्येक शास्त्रादि स्वयं प्रमाण देते हैं कि महापुरुष के द्वारा ही शास्त्रों का तत्व-ज्ञान हो सकता है।

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया
उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानंज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः" (गीता)

यदि तुम शास्त्रों, वेदों को पढ़कर स्वयं ही तत्व-निर्णय करना चाहो, तो सर्वप्रथम इस विषय में महापुरुषों का निर्णय ही पढ़ लो। तुलसी के शब्दों में:—

"श्रुतिपुराण बहु कहेउ उपाई, छूट न अधिक अधिक उरझाई।"

अर्थात् यदि महापुरुषों के बिना ही अपने आप शास्त्रीय-भगवद्विषयों का तत्व-निर्णय करने चलोगे, तो सुलझने के बजाय और भी अधिक उलझते जाओगे। सारांश यह कि एक प्रश्न के समाधान के लिये तुम शास्त्रों में अपनी बुद्धि को लेकर उत्तर ढूंढ़ने जाओगे, एवं शास्त्रों का वास्तविक रहस्य न

समझ कर, सैकड़ों प्रश्न उत्पन्न करके लौटोगे। क्योंकि पुनः तुलसी ही के शब्दों में :—

"मुनि बहु, मत बहु, पंथ पुराननि, जहां तहां झगरो सो" (विनय पत्रिका)।

अर्थात् अनेक ऋषि, मुनि, हो चुके हैं, एवं उनके द्वारा अनेक प्रणीत-मत भी बन चुके हैं। पुराणादिकों में इस विषय में झगड़े ही झगड़े है। फिर तुम्हारी बुद्धि भी मायिक है, अतएव तुम मायिक अर्थ ही निकालोगे।

परदोष-दर्शन भी घोर कुसंग है, क्योंकि परदोष-दर्शन से दो हानि है। एक तो यह कि परदोष-दर्शनकाल ही में स्वाभाविक-रूप से स्वाभिमान-वृद्धि होती है, जो कि साधक के लिये तत्क्षण ही पतन का कारण बन जाती है। दूसरे यह कि परदोष-चिंतन करते हुये शनैः शनैः बुद्धि भी दोषमय हो जाती है, जिसके परि-णाम-स्वरूप उन्हीं सदोष विषयों में ही प्रवृत्ति होने लगती है, अतएव सदोष कार्य होने लगता है। फिर जब संसारमात्र ही सदोष है, तो हम कहां तक दोष-चिंतन करेंगे। आश्चय तो यह है कि मूर्ख को, मूर्ख कहने का अधिकार तो ज्ञानी ही को है। मूर्ख, मूर्ख को, मूर्ख क्यों कहता है ? वह भी तो स्वयं मूर्ख है। यदि यह कहो कि क्या करें, दोष-दर्शन का स्वभाव सा बन गया है, तो हमेंको ई आपत्ति नहीं, तुम दोष देख सकते हो, किंतु दूसरों के नहीं, अपने ही दोष क्या कम हैं। अपने दोषों को देखने में तुम्हारा स्वभाव भी न नष्ट होगा, तथा साथ ही एक महान लाभ भी होगा, वह महान् लाभ तुलसी के शब्दों में। "जाने ते

छीजहिं कछु पापी" अर्थात् अपने दोष जान लेने पर कुछ न कुछ बचाव हो जाता है, क्योंकि फिर वह जीव उससे बचने का कुछ न कुछ अवश्य प्रयत्न करता है।

मेरी राय में तो परदोष-चिंतन करना ही स्वयं के सदोष होने का पक्का प्रमाण है, अन्यथा भला उसको इन बातों से क्या अभिप्राय है? लोक में भी देखो, एक बाप, अपने सन्निपात-रोग-ग्रस्त पुत्र के हेतु औषधि लेने के हेतु डाक्टर के यहाँ जाता है। यदि उसे मार्ग में कोई बुलाता भी है, तो वह सभ्यता आदि की परवाह न करते हुए सीधे ही कह देता है, "अभी अवकाश नहीं, फिर मिलेंगे"। वह सीधे ही डाक्टर के पास लक्ष्य करके जाता है, इसी प्रकार साधक को भी अपने मानसिक-सान्निपातिक-रोगों की निवृत्ति के हेतु, सद्गुरु के द्वारा बताये हुये मार्ग पर चल कर, अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहिये। उसे यह अवकाश ही न होना चाहिये, कि साधना-रूपी औषधि के खाने के बजाय बैठे ठाले पर-दोष-चिंतन-स्वरूप कुसंग का कुपथ्य करे। अतएव इस परदोष-चिंतन-रूपी अत्यंत भयानक-कुपथ्य से सर्वथा ही सावधान रहना चाहिये।

अश्रद्धालु एवं अनधिकारी से अपने मार्ग अथवा साधनादि के विषय में वाद-विवाद करना भी कुसंग है। क्योंकि जब अनधिकारी को सर्वसमर्थ महापुरुष ही आसानी के साथ बोध नहीं करा पाता, तब वह साधक भला किस खेत की मूली है। यदि कोई परहित की भावना से भी समझाना चाहता है, तब भी

उसे ऐसा न करना चाहिये, क्योंकि अश्रद्धालु होने के कारण उसका विपरीत ही परिणाम होता है, साथ ही उस अश्रद्धालु के न मानने पर साधक का चित्त अशान्त हो जाता है।

शास्त्रानुसार भी भक्ति-मार्ग को लेकर वाद-विवाद करना घोर पाप है। भरत जी कहते हैं:—

"भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः
तेन पापेन..............................।"

अर्थात् भरत जी कहते हैं कि भक्ति-मार्ग को लेकर वाद-विवादकर्म सरीखा महान् पाप मुझे लग जाय यदि राम के वन जाने के विषय में मेरी राय रही हो।

अतएव न तो वाद-विवाद सुनना चाहिये, न तो स्वयं ही करना चाहिये। यदि अनधिकारी जीव, इन विषयों को नहीं समझता, तो इसमें आश्चर्य या दुःख भी न होना चाहिये, क्योंकि कभी तुम भी तो नहीं समझते थे। यह तो परम सौभाग्य, महापुरुष एवं भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है कि जीव, भगवद्विषय को समझ कर उनकी ओर उन्मुख हो।

अनधिकारी से भगवद्विषयक कोई अन्तरंग-रहस्य भी न बताना चाहिये, क्योंकि वर्तमान अवस्था में अनुभव-हीन होने के कारण अनधिकारी उन अचिन्त्य विषयों को नहीं समझ सकता, उलटे अपराध कमा कर अपनी रही सही आस्तिकता को भी खो बैठेगा। साथ ही अन्तरङ्ग-रहस्य बताने वाले साधक को भी अशान्त करेगा।

लोकरन्जन का लक्ष्य भी घोर कुसंग है। प्रायः साधक थोड़ा बहुत समझ लेने पर अथवा थोड़ा बहुत अनुभव कर लेने पर, उसे लोक के सन्मुख गाता फिरता है, एवं धीरे धीरे वह अभिमान का स्वरूप धारण कर लेता है, जिसके परिणाम-स्वरूप साधक की वास्तविक-निधि दीनता छिन जाती है, एवं हँसी हँसी में ही लोक-रन्जन की बुद्धि परिपक्व हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि अपने दुष्कर्मों का भी स्मरण करते हुये यदि साधक की आंख में दो बूंद आँसू निकल आता है, तब वह स्वाभिमान के कारण लोक के समक्ष अपने को महान् भक्त प्रकट करने के अभिप्राय से झूठ मूठ को ही इतना शोर गुल मचाता है, मानो उसे गोपी-विरह ही प्राप्त हो गया हो, जिसके परिणाम-स्वरूप दो हानियाँ होती हैं। एक तो मिथ्यभिमान बढ़ता है, तथा दूसरे लोक-रंजन की बुद्धि होने के कारण वह प्रायश्चित्त का आँसू भी छिन जाता है। अतएव साधक को, लोक-रन्जनरूपी महाव्याधि से बचना चाहिये। साधक को तो अपनी साधना, विशेष कर अनुभव आदि, अत्यन्त ही गुप्त रखना चाहिये, केवल अपने सद्गुरु से ही कहना चाहिये। अपने आप भी उन अनुभवों का चिंतन करना चाहिये, किन्तु वहां भी सावधानी यह रखनी चाहिये कि यह सब अनुभव महापुरुष की कृपा से ही प्राप्त हुआ है, मेरी क्या सामर्थ्य है।

किसी नास्तिक को भी देख कर यह मिथ्याभिमान न करना चाहिये कि यह तो कुछ नहीं जानता, मैं तो बहुत आगे बढ़ चुका

हूँ। मैंने अपने चौदह वर्ष के भारतीय-पर्यटन में अनेकानेक ऐसे उदाहरण देखे हैं कि जो कल तक घोर नास्तिक थे, वे ही आज इतने आगे बढ़ गये कि बड़े बड़े साधकों के भी कान काट लिये। यह सब विशेष कर पूर्वजन्म के संस्कारों के द्वारा ही हो जाता है। तुम किसी के संस्कारों को क्या जानो! अतएव, "सभी जीव गुप्त या प्रकट रूप से भगवत्कृपा-पात्र हैं" ऐसा समझ कर किसी को भी घृणा की दृष्टि से न देखना चाहिये, किन्तु इतना अवश्य है कि सङ्ग उन्हीं का करना चाहिये, जिनके द्वारा हमारी साधना में वृद्धि हो।

वर्तमान काल में साधक को यदि उच्च-अवस्थाओं के भगवद्रहस्य समझ में न आवें तो उसे अनुभव-गम्य समझ कर शब्दों द्वारा समझने का प्रयत्न न करना चाहिये। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है "खग जाने खग ही का भाखा" के अनुसार महापुरुष ही महापुरुष की बोली समझ सकता है। भगवद्रसिक नामक ब्रज-रसिक ने तो स्पष्ट ही कह दिया है "भगवद्रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना" शास्त्रों में तो सर्वत्र ही अध्ययन तक में अधिकारित्व निरूपण किया गया है। देखो, रामायण पढ़ने का अधिकारी :—

"जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन कर साथ
तिन कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ"

अर्थात् जो पूर्ण श्रद्धा-युक्त न हो, एवं महापुरुषों का वरद-

हस्त सिर पर न हो, तथा जिसको रघुनाथ प्रिय न लगते हों, उसके लिये यह रामायण अगम्य है। अब ज़रा सोचो कि ये तीनों ही अधिकारित्व की वस्तुयें कितनी महत्व-पूर्ण हैं। आगे चल कर उन अनधिकारियों को रामायण सुनाने तक का निषेध है। कारण यह है कि यद्यपि रिवाल्वर से शत्रु का नाश होता है, तथापि वह सरकार के द्वारा अधिकारी को ही दी जाती है। यदि वही रिवाल्वर डाकू या पागल को दे दी जाय तो उससे महान् हानि हो जाती है। गीता के पढ़ने के भी अधिकारी निम्नलिखित हैं :—

"इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन"

अर्थात् गीताकार ने तो स्पष्ट ही कह दिया कि जो भक्त न हो उसे गीता मत सुनाना। देखो भागवत-ग्रंथ पढ़ने का अधिकारी कौन है :—

"मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः
पिवत भागवतं रसमालयम्"

अर्थात् भावुक रसिक लोग ही इस रस को पियें। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना, तथा यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अनधिकारी अनधिकार-चेष्टा-पूर्वक किसी तत्व को नहीं पा सकता।

अपने गुरु के बताये हुये मार्ग के सिवा अन्य किसी-मार्ग विषयक उपदेश सुनना, पढ़ना आदि भी कुसंग है, भले ही वह मार्ग, महापुरुष निर्दिष्ट ही क्यों न हो। कारण यह है कि साधक

विविध प्रकार के मार्गों को सुन कर कभी इधर जायगा, कभी उधर जायगा। परिणाम-स्वरूप 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः' के अनुसार न इधर का रहेगा, न उधर का रहेगा। मान लो, तुम भक्ति-मार्ग की साधना कर रहे हो। कोई ज्ञान-मार्गी महापुरुष, ज्ञान-मार्ग का उपदेश कर रहा है। तुम उसे सुनोगे, तथा सोचने लग जाओगे कि अरे! यह तो कुछ और ही कहता है। बस, दिमाग़ में कूड़ा भरने लग जायगा। तुम्हारी लघु-बुद्धि की यह सामर्थ्य नहीं है कि वास्तविक तत्व पर पहुँच सके। इसी प्रकार अपने मार्ग में भी उपासना के अनेकानेक ढंग हैं, जो कि साधकों की रुचि एवं विश्वास पर निर्भर रहते हैं। तुम दूसरी साधना को सुन कर सोचोगे कि अरे! यह बड़ी अच्छी साधना होगी, क्योंकि मेरी साधना से तो अभी तक भगवत्प्राप्ति नहीं हुई, कदाचित् उस साधना से शीघ्र हो जाय। और यदि कहीं उस साधना के प्रति यह दुर्भाव उत्पन्न हो गया कि उसकी साधना सही नहीं है, तब तो और भी अपराध कमा बैठोगे। अतएव, अपने गुरु के ही बताये मार्ग का निरन्तर चिंतन, मनन, एवं परिपालन करना चाहिये, तथा अन्य मार्गावलंबी-साधकों अथवा अपने मार्ग के अन्यान्य-प्रणालीयुक्त साधकों की साधना पर दुर्भाव न करना चाहिये। यह समझ लेना चाहिये कि सभी की साधनायें ठीक हैं, जिसके लिये जो अनुकूल होती है वह वही करता है। हमें इस उधेड़ बुन से क्या मतलब !!!

किसी महापुरुष या साधक का अपमान आदि करना भी घोर कुसंग है। साधकगण बहुधा अपने आप को तथा अपने महापुरुष को ही सत्य समझते हैं, शेष साधकों एवं महापुरुषों में दुर्भावना-पूर्ण निर्णय देते हैं। यह महान् भूल है। इससे नामापराध हो जायगा, जिसके परिणाम-स्वरूप अपना महा-पुरुष तथा अपना इष्टदेव भी प्रसन्न न हो सकेगा, क्योंकि समस्त महापुरुष तथा भगवान् परस्पर एक ही हैं, यह मैंने पूर्व में ही विस्तार पूर्वक समझा दिया है। यदि किसी अन्य महापुरुष से तुम्हारी साधना के अनुकूल लाभ प्राप्त होता है, तो उसे अवश्य ग्रहण करना चाहिये। किन्तु इसमें बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अन्यथा कहीं यदि महापुरुष पर दुर्भावना हो गई, तो "एक पैसा कमाया एक लाख गमाया" वाली कहावत सिद्ध हो जायगी।

भगवान् के समस्त नाम, समस्त गुण, समस्त लीलायें, समस्त धाम, एवं उनके समस्त भक्त परस्पर एक हैं। एक के प्रति भी दुर्भाव करना, सबों पर दुर्भावना करना है। "समस्त महापुरुष एवं भगवान् के समस्त अवतार भी परस्पर अभिन्न हैं" ऐसा तत्व-ज्ञान हृदय में सदा के लिये अङ्कित कर लेना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि रामोपासक, कृष्णोपासक को तथा वैष्णव, शैवों आदि की सम्प्रदायवाद में पड़कर निन्दादि करते हैं। यह घोर नामापराध है।

हाँ, तुम्हारी निष्ठा एवं रुचि जिस किसी भी अवतार या

उनके जिस किसी भी नाम, गुण, लीला, जनादि में हो, उसी में मन-बुद्धि का सम्बन्ध स्थापित करो, किन्तु अन्य को भी उसी का स्वरूप समझो । दुर्भावना न होने पाये।

देखो, अब मैं इस विषय में कुछ विशेष बातें समझाता हूँ। राम, कृष्ण की एकता पर ही विचार कर डालो। देखो, वे दोनों ही पूर्णावतार एवं परस्पर एक हैं। पढ़ो भागवत:—

"अस्मत्प्रसादसुमुखः कलया कलेशः" (भा०२-७-२३)

"क्लेशव्ययाय कलया सितकृष्णकेशः" (भा० २-७-२६)

अर्थात् भगवान् राम के लिये भागवतकार कहते हैं कि राघवेन्द्र सरकार कलाओं के ईश हैं, एवं कलाओं के साथ अवतरित हुये हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के लिये भी सितकृष्णकेश-रूप कलाओं से युक्त पूर्णावतार सिद्ध किया है।

कुछ लोग कहते हैं कि भागवत में तो स्पष्ट लिखा है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अर्थात् और समस्त अवतार तो अन्शावतार हैं, किन्तु श्रीकृष्णावतार ही पूर्णावतार है। वे लोग कदाचित् भागवत ही में उपरोक्त रामावतार की भगवत्ता को नहीं पढ़े। फिर जिस प्रकार भागवत कहती है, ठीक उसी प्रकार रामायण भी तो कहती है। "रामस्तु भगवान् स्वयम्" इसके अतिरिक्त ब्रह्मवैवर्त पुराण देखिये :—

"त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती
रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी"

(ब्रह्मवैवर्तपुराण अध्याय १२४)

अर्थात् हे राधिकाजी ! तुम्हीं जनकपुर में सीता थीं, तथा तुम्हारी ही छाया-स्वरूप द्रोपदी आदि हैं। रावण ने तुम्हारा ही हरण किया था एवं तुम्हीं राम की अर्धाङ्गिनी थीं। पद्म पुराण कहता है .—

"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः
ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले"

अर्थात् राम ने ही दण्डकारण्य के मुनियों को बरदान दिया था कि तुम लोगों को मैं कृष्ण बन कर प्रेमरस पिलाऊंगा। वे ही दण्डकारण्य के मुनि, गोकुल में गोपियों के रूप में अवतरित हुये थे। बहुधा लोग तुलसीदास का मिथ्या-ओट लेकर कहते -

"कहा कहौं छबि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवे, धनुष बाण लो हाथ ॥

अर्थात् तुलसीदास ने श्रीकृष्ण को नमस्कार तक नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि राम एवं कृष्ण पृथक् पृथक् थे। किन्तु थोड़ा भी विचार करने से यह रहस्य समझ में आ सकता है। ज़रा सोचो तो, तुलसीदास ने प्रस्ताव रखने के पूर्व ही नाथ ! कह कर श्रीकृष्ण को सम्बोधित किया है। फिर इसके पश्चात् ही कहते हैं, कि हे नाथ ! क्या ही आपका अनिर्वचनीय स्वरूप है, मैं वर्णन नहीं कर सकता। तत्पश्चात् कहते हैं कि हे नाथ ! धनुष बाण हाथ में ले लो। तुलसीदास यह नहीं कहते कि राम बन जाओ ! वे इतना ही कहते हैं, कि धनुष बाण हाथ में

ले लो। अरे! बनना क्या है। नट के दोनों ही स्वरूप म लीला-क्षेत्र में इतना ही ओट तो है कि श्रीकृष्ण के पास प्रेम-स्वरूपा मुरली है, एवं राम के पास मर्यादा-रूप धनुष बाण है। फिर यह भी सोचो कि यदि तुलसीदास कदाचित् ऐसा भी कहते हों कि हे कृष्ण! मैं तुमको नमस्कार नहीं करूंगा, जब तक तुम राम नहीं बन जाओगे, तब भी तो विचारणीय हो जाता है कि तुलसी के राम अद्वितीय एवं पूर्ण भगवान् हैं। अद्वितीय पूर्ण भगवान् बनने की सामर्थ्य, अद्वितीय पूर्ण भगवान् के सिवा अन्य किस में हो सकती है। इससे भी सिद्ध होता है कि राम, कृष्ण केवल लीला-क्षेत्र में ही दो प्रतीत होते हैं। तुलसीदास का अभिप्राय मेरी राय में यह था, कि हे नाथ! मैं आपका दास हूँ, प्रेयसी नहीं हूँ। यह बृन्दावन तो कान्तभाव-युक्त आपका अंतरङ्ग-धाम है। दास्य-भाव वाला कान्त-भाव में नहीं जा सकता। अतएव, मेरी लज्जा रखिये, एवं धनुष बाण लेकर मेरे दास्य-भाव को सिद्ध कर दीजिये। फिर तुलसीदास की बात राम के सिवा और कौन मान ही सकता था? तथा औरों से वे कहते ही क्यों? तुलसीदास ने तो यह सिद्ध कर दिया, कि श्रीकृष्ण मेरे ही इष्टदेव हैं, क्योंकि इन्होंने मेरी इच्छा पूर्ण कर दी। पढ़िये विनय पत्रिका (पद १९६)

"विरद गरीब निवाज राम को,
ध्रुव, प्रहलाद, विभीषण, कपिपति, जड़, पतंग, पाण्डव, सुदाम को"

इस पद में जड़ शब्द से यमलार्जुन उद्धार, पाण्डव शब्द से अर्जुनादि उद्धार एवं सुदामा उद्धार. अपने ही इष्टदेव द्वारा क्यों

बता रहे हैं ? पढ़ो पद १०६ में कुबरी को पवित्र करने का प्रसंग अपने ही इष्टदेव द्वारा । पढ़ो पद २१४ :—

"ऐसी कौन प्रभु की रीति, गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाय"

इस पद में पूतना का उद्धार अपने ही इष्टदेव द्वारा क्यों बतला रहे हैं ? इसके अतिरिक्त पढ़ो पद १७३, पद ८३, पद २१७, पद २४० आदि ।

इसके अतिरिक्त पढ़ो गर्गसंहिता (अध्याय ४ श्लोक ३७),

"द्वापरान्ते करिष्यामि भवतीनां मनोरथम्"

अर्थात् भगवान् राम कहते हैं कि मैं द्वापर में श्रीकृष्ण बन कर तुम लोगों की इच्छा पूर्ण करूंगा !

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी भगवान् के पूर्णावतार में चार व्यूह होते हैं ! वे चारों व्यूह रामावतार में राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, एवं कृष्णावतार में क्रमशः श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, थे । यह विषय शास्त्रों में स्पष्ट है ।

अरे ! यह मैं क्या बकने लगा । तुलसीदास तो महापुरुष थे । उनके विषय में तो राम, कृष्ण के द्वैत की कल्पना करना भी घोर नामापराध है । यह तत्व तो साधारण विद्वान् भी समझते हैं । अतएव समस्त अवतारों में परस्पर एकता ही समझनी चाहिये । हाँ, जिस अवतार की लीला में अपनी विशेष-रुचि हो, उपासना उसी की करनी चाहिये ।

कुछ लोग कहते हैं कि हम राम के उपासक हैं । श्रीकृष्ण की उपासना तो करना चाहते हैं, इष्ट बदल जाने का भय है । बड़े

ही खेद की बात है कि वे लोग इतना भी नहीं समझते कि एक ही पति को कई पोशाक में देखना, स्त्री के लिये पाप या व्यभिचार तो नहीं सिद्ध होता। देखो, भगवान् शंकर से बड़ा कौन राम-भक्त होगा, जो कृष्णावतार में अवतार होते ही नंद जी के द्वार पर श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ आ धमके, तथा महारास में भी पहुँच गये। इतना ही नहीं, रामावतार के समस्त परिकर कृष्णावतार में आये थे। उदाहरणार्थ, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, क्रमशः बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध बन कर तथा सीता जी राधा बन कर, हनुमान जी युद्ध के समय पताका में ही रहकर, जाम्बवन्त ने श्रीकृष्ण से घोर युद्ध कर, जनकपुर की स्त्रियाँ गोपी बनकर एवं शूर्पणखा, कुब्जा बन कर, रावण भी शिशुपाल बनकर, इत्यादि समस्त रामावतार के परिकर कृष्णावतार में अवतरित हुये थे। किंतु यह बात अवश्य है कि कृष्णावतार की प्रेम-लीलायें विशेष मधुर हैं, जिसे रामावतार में राम से ही लोगों ने मांगी थी, अतएव, वह कृष्ण प्रेम-लीला सिद्धान्ततः राम-लीला ही है। फिर भी साधक की स्वेच्छा पर निर्भर है। राम की त्रेतावतार की, अथवा राम ही की द्वापरावतार की, जिस अवतार की भी लीला, साधक को प्रिय हो, उसी का अवलंबन कर ले। उसके मस्तिष्क का कीड़ा (इष्ट बदलने वाला कीड़ा) आगे चल कर अपने आप झड़ जायगा। जिसको गहरी प्रेम-मदिरा छाननी हो, उसे कृष्णावतार की ही रामलीला का अवलंबन ग्रहण करना होगा।

सारांश यह कि उपरोक्त समस्त-विषयों को समझ कर

कुसंग से सावधान रहना चाहिये। वास्तव में जिस किसी प्रकार से भगवान् में मन लगे, वही सत्संग है, एवं जिस किसी भी प्रकार से मन न लगे वही कुसंग है, किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि दुर्भावना, नास्तिक के प्रति भी न होने पाये। अरे! बड़े बड़े महापुरुष भी नास्तिक सरीखी बात करते हैं। वास्तव में शब्द जगत में तो उच्च-कोटि के रसिक एवं उच्च कोटि के नास्तिक एक से ही प्रतीत होते हैं। उच्च-कोटि की विरहिणी गोपिका कहती है कि उस निष्ठुर का मेरे सामने नाम मत लो। यही बात तो उच्च-कोटि का नास्तिक भी अपने शब्दों में कहता है, कि मैं भगवान् का नाम तक नहीं सुनना चाहता। अब जरा सोचिये, दोनों के शब्द एक होते हुए भी भावों में कितना अनंत वैपरीत्य है। अटपटे रसिकों की भाषा बड़ी ही अटपटी होती है। अतएव किसी के प्रति भी यह कहने का अधिकार नहीं है कि अमुक व्यक्ति नास्तिक है। यदि अधिकार भी मान लिया जाय, तब भी साधक को कोई भी लाभ नहीं है, प्रत्युत हानि ही है। साधक को एक क्षण का भी कुसंग उसे गिरा देने में पूर्ण समर्थ है, तथा साधक से पास ऐसी शक्ति तब तक नहीं आ सकेगी, जिससे कि उस पर कुसंग का प्रभाव ही न पड़े, जब तक कि साधक का योगक्षेम वहन करना रूप उत्तरदायित्व भगवान् पर निर्भर नहीं हो जायगा।

मैं तो समझता हूँ कि साधक को भगवान् से विमुख करने वाला सबसे महान शत्रु कुसंग ही है। अन्यथा, अनंत बार महा

पुरुष एवं भगवान् के अवतार लेने पर भी, जीव इस प्रकार माया में ही पड़ा सड़ता रहे, यह कदापि संभव नहीं। अतएव साधक को साधना से भी अधिक दृष्टिकोण, कुसंग से बचने पर रखना चाहिये। तुलसी के शब्दों में :

"बरु भल बास नरक कर ताता, दुष्ट संग जनि देइ विधाता"

शरणागत—गुरुदेव ! कुसंग तो भलीभाँति समझ में आ गया, अब पुनः अपने विषय पर आ जाइये।

गुरुदेव—हां, तो मैं भक्ति के कुछ प्रमुख-अंग बता रहा था, बीच में कुसंग का प्रसंग आ गया, अब फिर वहीं आ जाओ।

शास्त्रानुकूल चलना :—

"शास्त्रमत्र समाख्यातं यद्भक्तिप्रतिपादकम्" (भ० र० सि०)

अर्थात् शास्त्र से यहां अभिप्राय है, भक्ति-सम्बन्धी शास्त्र। भागवत कहती है:—

सर्ववेदांतसरं हि श्रीभागवतमिष्यते

"तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्"

अर्थात् समस्त वेदान्तों का सार भागवत है। इस रस को पान करने वाला अन्य किसी भी शास्त्र में रुचि नहीं रखता।

भक्तों की सेवा :—

"आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्

तस्मात्परतरं देवि ! तदीयानां समर्चनम्"

अर्थात् समस्त-अराधनाओं में श्रीकृष्ण की आराधना ही सर्व-श्रेष्ठ है। किन्तु श्रीकृष्ण की आराधना से भी श्रेष्ठ उनके भक्तों की आराधना है। अपरं चः—

"ये मे भक्तजनाः पार्थ ! न मे भक्ताश्च ते नराः

मद्भक्तानां च ये भक्ता मम भक्तास्तु ते नराः" (आदि पुराण)

अर्थात भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो मेरे भक्त हैं, किंतु मेरे भक्तों के भक्त नहीं हैं, वे वास्तव में मेरे भक्त नहीं है। किंतु, जो मेरे भक्तों के भक्त हैं, वास्तव में वे ही मेरे अत्यन्त-प्रिय-भक्त हैं। धन्य है अकारण-करुण श्रीकृष्ण की भक्त वत्सलता को !!!

प्रायः एक प्रश्न जन-साधारण के मस्तिष्क में गूंजा करता है कि यदि किसी को भगवत्प्राप्ति न करनी हो, वरन् वह स्वर्ग, या स्वर्गादि की सिद्धियों, अथवा मोक्ष को ही चाहता हो तो इस भक्ति से वह कैसे प्राप्त होगा ? उनके लिये रूप गोस्वामी कहते हैं :—

"यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्

योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा

स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वांछति

अंतःशुद्धिः वहिःशुद्धिस्तपःशान्त्यादयस्तथा

अमी गुणाः प्रपद्यन्ते हरिसेवाभिकामिनाम्" (भ० र० सि०)

अर्थात् जो फल, कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म, तथा अन्य किसी भी साधना से मिल सकता हो, वह सब

मेरी भक्ति से ही भक्त को स्वभावतः प्राप्त हो जाता है। स्वर्ग, मोक्ष, या मेरा धाम आदि जो कुछ भी मेरा भक्त चाहता है, मेरी भक्ति से सब कुछ उसे प्राप्त हो जाता है। अंतःकरण की शुद्धि, वहिरंग-शुद्धि, तपस्या, शांति, आदि समस्त गुण स्वभावतः ही मेरे भक्त की दासता करते हैं। अभिप्राय यह कि जब ऋद्धि, सिद्धि, एवं मुक्ति, आदि का स्वामी भगवान् ही भक्त का दास हो जाता है, तब फिर ऋद्धि, सिद्धि, आदि के विषय में प्रश्न ही क्या रह जाता है? जब राजा ही दासता करेगा, तब उसकी नौकरानियाँ ऋद्धि, सिद्धि, आदि स्वयं दासी बन जायंगी। अतएव मेरी भक्ति सब कुछ देने में समर्थ है।

———

(२) रागानुगा-भक्ति

"इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्

तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोच्यते" (भ० र० सि०)

भावार्थ यह कि अपने इष्ट में स्वाभाविक ही, जो परम अनुराग, तन्मयता युक्त, हो जाता है। वही रागात्मिका भक्ति है। तथा:—

"विराजन्तीमभिव्यक्त व्रजवासिजनादिषु

रागात्मिकामनुसृता सा रागानुगोच्यते" (भ० र० सि०)

अर्थात् उसी रागात्मिका भक्ति की अनुसरण करने वाली भक्ति, ब्रजवासियों में रागानुरागारूप धारण कर लेती है। तात्पर्य यह कि बिना साधन के हीं, ब्रजवासियों का भगवान् से जो स्वाभाविक अनुराग है, वही रागानुगा भक्ति है। वह रागानुगा भक्ति दो प्रकार की होती है। (क) कामानुगा (ख)— सम्बंधानुगा।

भगवान् कहते हैं :— (भागवत स्कंध ७)

"कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः

आवेश्य तदघं हित्वा वहवस्तद्गतिं गताः"

अर्थात् काम से, द्वेष से, भय से, स्नेह से, जैसे कैसे भी जो अपने मन को श्रीकृष्ण में लीन कर देता है, वह समस्त पापों से रहित होकर श्रीकृष्ण-लोक को ही प्राप्त होता है। कुब्जादि को

छोड़कर अन्य-समस्त-गोपियों की कामरागानुगा-भक्ति अत्यन्त ही विचित्र ढंग की थी।

"सा कामरूपा संभोगतृष्णां या नयति स्वयम्

तदस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः

इयं तु व्रजदेवीनां सुप्रसिद्धा विराजते

आसां प्रेमविशेषोऽयं प्राप्तः कामपि माधुरीम्

तत्तत्क्रीडानिदानत्वात् काम इत्यभिधीयते"

अर्थात् व्रज-देवियों का काम-रूपी प्रेम इस प्रकार का था कि वे अपनी कामना, एकमात्र श्रीकृष्ण की कामना को ही समझती थीं, पृथक् से अपनी कोई भी स्वतंत्र कामना नहीं रखती थीं। अर्थात् जिस प्रकार भी श्रीकृष्ण प्रसन्न रहें, वही वे सब करती थीं। अतएव गोपियों का वह निष्काम-प्रेम ही काम की क्रीडाओं से युक्त होने के कारण कामसंज्ञा को प्राप्त हुआ। अन्यत्र भी :—

"प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्

इत्युद्धवादयोऽप्येते वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः"

अर्थात् गोपियों का परमोज्वल आदर्श-निष्काम-प्रेम ही लोक में काम इस प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ, जिसको कामना उद्धव, ब्रह्मा, शंकरादिक, करते हैं, एवं काम-प्रेम-युक्त गोपियों की चरण धूलि की कामना करते हैं। देखो भागवत :—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्

बृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्" (इत्यादि)

अतएव गोपियों का प्रेम परम निष्काम था। सकाम-प्रेम तो कुब्जादि में ही था, जो कि अपनी रुचि पृथक् से रखती थीं। देखो चैतन्य चरितामृत में काम-प्रेम का सुन्दर चित्रण :—

"निजेन्द्रिय सुख हेतु कामेर तात्पर्य * कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल
निजेन्द्रिय सुख वाञ्छा नहे गोपिकार * कृष्ण सुख हेतु करे संगम विहार"

तात्पर्य यह कि अपनी इन्द्रियादि-सुखों की कामना को रख कर श्रीकृष्ण से प्रेम करना सकामता है, किंतु श्रीकृष्ण के ही सुख में सुखी रहने का नाम निष्कामता है। गोपियों को अपनी इन्द्रियों के सुख की लवलेश भी इच्छा नहीं थी। गोपियाँ भागवत के दशम स्कंधमें कहती हैं :—

"यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय ! दधीमहि कर्कशेषु
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः"

भावार्थ यह कि वे गोपियाँ कहती हैं, कि हे श्रीकृष्ण ! आप के जिन कोमल चरण-कमलों को हम सब अपने कठोर स्तनों में डर कर, धीरे से इसलिये आलिङ्गन करती हैं कि कहीं उन कोमल-चरणों को कष्ट न हो जाय। उन्हीं कोमल-चरणों से पत्थर, काँटे आदि से युक्त जंगलों में आप विचरते हैं। आप ही की आयु-स्वरूप मुझ गोपियों से यह दुःख देखा नहीं जाता। तुमने एक नारद जी का कथानक सुना होगा, जिसमें अपने प्रियतम के सुख के निमित्त गोपियों ने द्वारिकास्थ श्रीकृष्ण को अपनी चरण-धूलि तक दे दी

थी। अहाहा! क्या ही प्रेम की एकता तथा दिव्यता एवं निष्कामता है कि जहां समस्त लोक-वेद-मर्यादायें विलीन हो जाती हैं। केवल दिव्य-उज्वल-प्रेम का ही साम्राज्य रहता है। इसे पूर्णतया निष्काम प्रेमी ही जानते हैं, शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। अतएव गोपियों का प्रेम, अपनी रुचि रखना रूपः काम-युक्त नहीं था, वरन् श्रीकृष्ण की रुचि में रुचि रखना रूप काम-युक्त था, जो कि दिव्य, किन्तु देखने में लौकिक काम-क्रीडाओं से युक्त होने के कारण, लोक में काम-प्रेम से प्रसिद्ध हुआ। जो अल्पज्ञ, गोपियों में सांसारिक वासना-रूप काम का आरोप करते हैं, उन्हें इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि गोपियाँ गोलोक की नित्य-सिद्धा स्वरूपा थीं। अर्थात् अनादिकाल से ही मायातीत थीं। उन अल्पज्ञों को यह भी समझ लेना चाहिये, कि श्रीकृष्ण आत्माराम, साक्षान्मन्मथ-मन्मथ एवं अवरुद्ध-सौरत, मायाधीश, परात्पर, सर्वशक्तिमान् भगवान् थे। महारास में सौ करोड़ गोपियों के साथ विविध रास विलास करते हुये भी स्वस्वरूप में ही समस्त गोपियाँ एवं श्रीकृष्ण स्थित थे। इसका प्रमाण महारास में कामदेव का परास्त होना, एवं उसके परिणाम-स्वरूप श्रीकृष्ण का मदनमोहन उपाधि प्राप्त करना है।

मैं इस विषय में विशेष नहीं कहना चाहता, क्योंकि यह विषय अंतःकरण-शुद्धि के पूर्व एवं रसिकों की कृपा के बिना किसी भी प्रकार लौकिक-बुद्धि में नहीं समा सकता। स्थूल-बुद्धि द्वारा इतना ही समझ लेना चाहिये कि जिन गोपियों की चरण-

रज की कामना गुणावतार ब्रह्मा एवं भगवान् शंकरादि करते हैं, तथा जिन गोपियों की चरण-धूलि पाने के निमित्त, नित्य-जीवन्मुक्त-परमहंस, सनकादिक तथा उद्धवादिक, वृन्दावन में वृक्ष आदिक बनने की कामना करते हैं, उन गोपियों का दिव्य उज्वल निष्काम-प्रेम, किस कोटि का होगा! महारास के विषय में, स्थूल-बुद्धि से, इतना ही समझ लेना चाहिये, कि जिस महारास में गुणावतार भगवान् शंकरादिक भी, युगों की प्रतीक्षा के बाद सम्मलित हो पाये थे, वह दिव्य महारास किस कोटि का होगा! अत्यन्त स्थूल-बुद्धि से यह समझ लेना चाहिये कि जिन गोपियों के प्रेम के वशीभूत होकर परात्पर ब्रह्म श्रीकृष्ण भी "नट मरकट की नाईं" नाचता है, वह गोपियों का विशुद्ध-प्रेम किस कोटि का होगा! इस संबंध में मुझे एक रसिक का श्लोक बड़ा ही प्रिय लगता है :—

"गोपालांगणकर्दमे विहरसे विप्राध्वरे लज्जसे
ब्रूषे गो-सुतहुंकृतैः स्तुतिपदैर्मौनं विधत्से सताम्
दास्यं गोकुलकामिनीषु कुरुषे स्वाम्यं न दत्तात्मसु
जाने कृष्ण ! त्वदीयपादयुगलं भक्त्यैकलभ्यं परम्"

अर्थात्, हे श्रीकृष्ण ! हे गोपाल ! तुमको यशोदा के आंगन के कीचड़ में विहार करना अच्छा लगता है, जब कि ब्राह्मणों के द्वारा किये गये वैदिक-महानतम यज्ञों में जाने में लज्जा लगती है। तथा तुमको गोकुल की गायों के बछड़ों के हुंकार से बातचीत करना अच्छा लगता है, जब कि विद्वानों की स्तुति सुनकर भी

चुप्पी साधे बैठे रहते हो। तुमको गोकुल की अहीरिनियों को दासता करना अच्छा लगता है, जब कि निर्विकल्प समाधि में पड़े हुये ब्रह्मलीन-परमहंस के स्वामी बनने में संकोच लगता है। अरे! मैं जान गया। श्रीकृष्ण को वश में करने वाले प्रेम की ही यह महिमा है। एक महापुरुष कहता है:—

"निगमतरौ प्रतिशाखं मृगितं मिलितं परं ब्रह्म
मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटीपटांचले नद्धम्"

अर्थात् एक ब्रह्मलीन परमहंस कहता है कि जिस परंब्रह्म को मैंने वेद-रूपी वृक्ष की प्रत्येक शाखाओं में ढूंढ़ने पर अलग-अलग बिखरा हुआ पाया था, उसी ब्रह्म को गोकुल में गोपियों के पटाञ्चल में बँधा हुआ एक ही स्थान पर पाया। एक महापुरुष कहता है:—

"धन्या गोकुलकन्या वयमिह मन्यामहे जगति
यासां नयनसरोजेष्वंजनभूतो निरंजनो वसति"

अर्थात्, एक परमहंस कहता है कि मैं विश्व में केवल उन गोप-कन्याओं को धन्य मानता हूँ, जिनके नयनारविंद में निरंजन ब्रह्म भी अंजन बन कर रहता है। एक महापुरुष कहता है:—

"शृणु सखि! कौतुकमेकं नंदनिकेतांगणे मया दृष्टम्
गोधूलिधूसरांगो नृत्यति वेदांतसिद्धान्तः"

अर्थात् रसिक सखी कहती है, "अरी सखी! मैंने आज नंदराय के घर के आंगन में एक अत्यन्त ही विचित्र कौतूहल देखा है, वह यह कि वेदान्तियों का सिद्धांत-स्वरूप निर्विकल्प, निर्लेप,

निराकार ब्रह्म भी गायों के खुर के नीचे से निकली हुई धूलि में परिप्लुत गात्र होकर नाच रहा है।

यह सब ब्रह्म की स्वरूप-शक्तिस्वरूप, आनन्द ब्रह्म, के भी सार-भूत तत्व, ह्लादिनी शक्ति के भी सारभूत तत्त्व, दिव्य प्रेम का कमाल है। यह साधन भक्ति का प्रकरण है। यही साधन भक्ति परिपक्व होकर भाव भक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है।

(भाव-भक्ति)

"शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते" (भ० र० सि०)

यह स्मरण रहे कि प्रेम की प्रथम अवस्था ही भाव-भक्ति है।

"प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते" (भ० र० सि०)

अतएव इस अवस्था में आंसू, रोमांच आदि दो तीन सात्त्विक भाव ही अल्प रूप में प्रकट होते हैं, यथा :—

"स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः"

साधन के बिना ही श्रीकृष्ण एवं उनके भक्तों की कृपा से किसी किसी में सहसा भाव-भक्ति प्रकट हो जाती है। उसमें कई अंतरङ्ग अधिकारित्व आदि का रहस्य छुपा रहता है। यथा—

"साधनेन विना यस्तु सहसैवाभिजायते
स भावः कृष्णतद्भक्तप्रसादज इतीर्यते" (भ० र० सि०)

भाव-भक्ति में निम्नलिखित अनुगामी अनुभाव होते हैं :—

"क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता
आशाबंधः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने" (भ० र० सि०)

अर्थात् सहनशीलता, एक क्षण का भी समय न खोना, वैराग्य, मान न चाहना, मिलन की पूर्ण आशा, साधना में

उत्कण्ठा, अपने प्रभु के नाम-संकीर्तन में रुचि, उनके गुणों में प्रेम, उनके धाम में प्रेम, इत्यादि भावभक्ति के अनुभाव के अङ्कुरित होने ही से हो जाता है।

क्षांति—क्रोध के कारण-कदम्ब के होने पर भी सहनशीलता बना रहे, उसी का नाम क्षांति है। क्योंकि क्रोध के कारण न होने पर तो प्रायः सभी सहनशील बने रहते हैं।

अव्यर्थकालत्व—अर्थात् भगवद्विषय के सिवा एक क्षण के लिये भी मन अन्यत्र नहीं जा सके। सारांश यह कि साधक को जो भी समय मिलता है, उसे स्वाभाविक-रूप से भगवद्विषय में ही लगाता है। उसे सावधान करने की आवश्यकता नहीं होती।

विरक्ति—अर्थात् समस्त-इन्द्रियों के समस्त-विषयों से स्वाभाविक ही अरुचि हो जाना वैराग्य है। प्रायः लोग घर छोड़ कर भाग जाने को ही वैराग्य समझते हैं। स्मरण रहे कि वैराग्य मानसिक विषय है। स्थूल विषय नहीं है कि किसी आकस्मिक आगन्तुक-कारण-वश स्वरूपतः संसार का परित्याग कर दिया जाय। ऐसा करने से आगे चल कर साधक का पतन हो जाता है। वैराग्य तो स्वाभाविक ही होना चाहिये। सांसारिक विषयों को हठ-पूर्वक छोड़ना हठ-योग है, किंतु विषयों में स्वाभाविक ही प्रवृत्ति न होना विशुद्ध-राग्य है, यद्यपि पूर्व में ही ऐसी अवस्था नहीं आ जाती। जब तक ऐसी अवस्था न आ जाय, तब तक तो साधक को सांसारिक विषयों की नश्वरता का बार बार

चिन्तन ही करना चाहिये। साथ ही, भगवद्विषय रूप-साधनभक्ति में भी लगे रहना चाहिये। साधन-भक्ति के परिपक्व होने पर वही साधन-जन्य वैराग्य, सिद्धावस्था को प्राप्त होकर परिपक्व हो जाता है, एवं स्वाभाविक रूप से ही इन्द्रियों के विषयों से अरुचि हो जाती है। अतएव वराग्य के विषय में सावधानी-पूर्वक संभाल की आवश्यकता है, अन्यथा "न खुदा ही मिले न विसाले सनम, न इधर के रहे न उधर के रहे" वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी।

मानशून्यता – मान के वातावरण एवं मान की उच्चस्थिति प्राप्त होने पर भी यदि मान की रुचि उत्पन्न न हो, तभी मान-शून्यता समझनी चाहिये, अन्यथा तो जिसका सम्मान नहीं हो रहा है, वह भी मान-शून्य कहलायेगा।

आशाबन्ध—'भगवत्प्राप्ति अवश्य होगी, एवं मेरा लक्ष्य अवश्य सिद्ध होगा, इसमें लवलेशमात्र भी संदेह नहीं है', ऐसी दृढ़-भावना का ही नाम आशा-बन्ध है। तात्पर्य यह कि कोई भी परिस्थिति क्यों न आये, किंतु यह विचार स्वाभाविक-रूप से निश्चल बना रहे कि भगवत्प्राप्ति के पूर्व हमें अन्य कुछ नहीं सोचना है, तथा वह अवश्य होगी। प्रायः साधक चार दिन साधारण-रूप से साधना करते हुये ही यह सोचने लगते हैं कि अरे! यह तो बड़ा कठिन है, हमसे नहीं होगा। अतएव निराश होकर वे फिर संसार में लौट आते हैं। अरे भाई! जब तुम कुछ चलोगे ही नहीं, तब लक्ष्य के समीप ही कैसे पहुँचोगे? फिर यह

भी तो सोचो कि यदि भगवद्विषय से लौट भी आवोगे, तो जावोगे कहाँ ? विषयों में ही न ? और इतना तो समझते ही हो कि सांसारिक-विषयों में सुख का लवलेश भी नहीं। बड़ा आश्चर्य तो यह है कि जिस संसार के क्षेत्र में सुख का लवलेश भी नहीं है, वहां तो तुम अनादि-काल से निरंतर परिश्रम करते हुये भी निराश नहीं हुये, किंतु जिस भगवद्विषय में निश्चित सुख है, वहां से इतनी जल्दी निराश हो गये। ऐसा होना केवल विचार की ही न्यूनता का परिचय है।

समुत्कण्ठा—अर्थात् अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के निमित्त अत्यधिक-मात्रा का स्वाभाविक लाभ-युक्त उत्साह ही समुत्कण्ठा है।

नाम-गान में रुचि—भगवान् के विविध-नामों का प्रेम-युक्त संकीर्तन ही नाम-गान-रुचि है। देखो, नाम-संकीर्तन में अपने इष्टदेव के रूप-ध्यान के साथ साथ निम्नलिखित अवस्था का होना ही नामगान में रुचि कहलायेगी।

"नयनं गलदश्रुधारया, बदनं गद्गदरुद्धया गिरा
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति"

अर्थात् आँखों से आँसू निकल रहे हों, वाणी गद्गद हो रही हो, एवं शरीर में रोमांच आदि हो रहा हो, तभी समझना चाहिये कि मेरा नाम-संकीर्तन नाम-गान में रुचि-रूप-भावभक्ति का अनुभाव है।

देखो, नाम संकीर्तन ही तुम्हारा सर्वस्व है। रूप ध्यान आदि

के साथ निरंतर नाम-संकीर्तन का अभ्यास करते हुये एक दिन ऐसा आ जाता है कि उपरोक्त अवस्था स्वतः आ जाती है। पूर्व में मन लगाना पड़ता है, पश्चात् स्वयं लगने लगता है। अतएव, यह कभी भी भूल कर भी न सोचना चाहिये कि संकीर्तन में क्या बैठें! संकीर्तन में मन ही नहीं लगता। मैं साधक की यह सबसे बड़ी भूल समझता हूँ. क्योंकि बिना कुछ समय तक मन लगाने का अभ्यास किये, अपने आप मन लगेगा ही नहीं, फिर वह साधक तो अनन्त-जन्म तक इसी प्रतीक्षा में बैठा रहेगा। नहीं! नहीं!! मन लगाने का प्रयत्न करना चाहिये। दस बार प्रयत्न करने से एक बार तो अवश्य लगेगा। बस, फिर शनैः शनैः लगता चला जायगा। एक दिन भाव-भक्ति में पहुँच कर स्वभावतः ही मन लग जायगा। सारांश यह कि मन लगाना साधना है, मन लगना फल है। साधना ही से तो फल मिलेगा।

गुणगान में रुचि—उपरोक्त नाम-गान वाली बात ही गुण-गान में भी समझ लेनी चाहिये।

भगवद्धाम में प्रीति—भगवान् के धाम में, भगवान् अवश्य रहते हैं, अतएव उनके धाम भी उन्हीं के स्वरूप हैं, तथा वे अपने धाम में अवश्य मिल जायंगे। ऐसी दृढ़-भावना कर के भगवान् की विविध लीलास्थलियों में जा कर उन उन भूतपूर्व लीलाओं का स्मरण करते हुये, प्रेम-विभोर होकर आनंदाश्रु एवं वियोगाश्रु बहाना ही, धाम में प्रीति समझना चाहिये। भगवद्धाम को सदा

भगवत्-स्वरूप समझना ही धाम-निष्ठा है। यदि धाम में भी रह कर धाम के प्रति प्राकृत भाव रहा, तो उससे तो यही अच्छा है कि दूर से ही यह सुन्दर भाव बनाये रहे कि, हाय ! हाय !! वह दिन कब आयेगा, जब मैं धाम में नित्य ही निवास करूंगा ! उपरोक्त भाव-भक्ति के अनुभाव स्वाभाविक रूप से ही होते हैं।

एक प्रमुख विचारणीय बात इसी सम्बन्ध में और भी है, वह यह कि उपरोक्त अनुभावों से युक्त प्रेम की प्रथमावस्था-स्वरूपा भाव-भक्ति प्राप्त कर लेने पर भी श्रीकृष्ण के भक्तों के प्रति अपराध करने से साधक का पतन हो जाता है।

'भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः" (भ० र० सि०)

यह स्मरण रहे कि सब से महान् अपराध श्रीकृष्ण-भक्तों के प्रति किया हुआ अपराध ही है। नामापराधों में भी सर्वप्रमुख नामापराध है। अतएव, भाव-भक्ति की अवस्था में पहुँच कर भी साधक को इस अपराध से सदा सावधान रहना चाहिये, अन्यथा सब किया धरा चौपट हो जायगा। दूसरी बात यह है कि किसी साधक को सहसा ही भाव-भक्ति आदि में प्रवेश करते हुये देख कर आश्चर्य न करना चाहिये। न तो उसकी तीव्रता को देख कर निराश ही होना चाहिये कि अरे ! मैं तो बहुत पीछे रह गया, अमुक साधक तो अभी कल ही महापुरुष के पास आया था, एवं आज ही कितना भाव-युक्त हो गया, इत्यादि। उसका अन्तरङ्ग-रहस्य यह समझना चाहिये कि उसने पूर्व-जन्म में साधना-विशेष की थी, अतएव इस जन्म में बिना साधना के ही भाव-भक्ति रूप,

फल प्राप्त हो गया। अरे भाई! किसी बेटे के पास बाप की कमाई नहीं है, तो स्वयं कमाना चाहिये। अर्थात् यदि संस्कार उच्चतम नहीं है, तो साधना के द्वारा नवीन संस्कार बनाना चाहिये। क्योंकि जिसे हम आज संस्कारी कहते हैं, पूर्व-जन्म में उसने भी तो मथ्था-पच्ची करते हुये अभ्यास किया था। फिर, संस्कारी कुछ ला-परवाही भी करे, तो भी कोई विशेष हानि नहीं है, किंतु संस्कार-हीन को तो और भी तेज़ साधना करनी चाहिये, क्योंकि उसके पास पिछले संस्कार नहीं है।

तीसरी बात यह है कि यदि किसी भाव-भक्ति पर पहुंचे हुये साधक में कभी कुछ वहिरंग दुराचार सा भी दिखायी पड़े, तो भी उसके प्रति दुर्भाव न करना चाहिये, क्योंकि वह तत्ववेत्ता है, एवं भाव-भक्ति के कुछ रसों का भी अनुभव कर चुका है। किसी घोर कुसंग-वश ऐसा हो गया है, भाव-भक्ति ही उसे पुनः ठीक कर देगी। अरे! घोड़सवार ही तो घोड़े पर से गिरता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है? अरे! तुम तो सदा ही अपराध करते हो, तथा नशे में रहते हो, किंतु वह भाव-भक्ति वाला तो आज ही किसी आगंतुक महान् कारण-वश ही ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हो गया है। वह तो कल समझ जायगा, पर तुम्हारे पल्ले अपराध ही पड़ेगा। शास्त्रों का कथन है। यथाः—

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः"

(गीता ७—३०)

"विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचि-
द्धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः" (भा० ११—१४)

सारांश यह कि तत्व-ज्ञानी किंचित् अनुभव-युक्त, भाव-भक्ति-प्राप्त साधक का किसी वहिरंग आगंतुक कारण से यदि पतन भी हो जाता है तो उसे महात्मा ही समझना चाहिये, क्योंकि उसके हृदय में रहने वाले भाव-भक्ति रूपी भगवान् उसे शीघ्र ही उठा लेते हैं। हाँ, तत्ववेत्ता न होने के कारण तो साधक कुछ दूर जाकर भी कुसंग-वश धड़ाम धड़ाम गिरा करते हैं। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि एक घोर नास्तिक के प्रति भी यह न सोचना चाहिये, कि अमुक व्यक्ति की क्या गति होगी? क्योंकि वह अत्यंत मूर्ख है। अरे! तुम क्या कम मूर्ख हो, जो अपनी साधना को छोड़कर ऐसी व्यर्थ की बात सोचते हो। हमारा इतिहास साक्षी है कि वाल्मीकि आदि बड़े बड़े उदाहरण-स्वरूप घोर नास्तिक पापियों ने भी एक क्षण ही में ऐसी छलांग मारी कि अनेकानेक जन्मों के साधकों को भी पीछे कर दिया। अतएव, जब हम किसी के गुप्त-संस्कारों को नहीं समझ सकते, तब उस विषय में अपनी चार अंगुल की खोपड़ी लगाकर अकारण ही टांग अड़ाने की क्या आवश्यकता है? पता नहीं, किस गुदड़ी में कौन रत्न छिपा हुआ है, तथा वह कब प्रकट हो पड़े। इसी बात को रूपगोस्वामी कहते हैं। यथा—

"भावोऽप्यभावमायाति कृष्णप्रेष्ठापराधतः
आभासतां च शनकैर्न्यूनजातीयतामपि" (भ० र० सि०)

"साधनेच्छां विना यस्मिन्नकस्माद्भाव ईर्यते
विघ्नस्थगितमत्रोह्यं प्राग्भवीयं सुसाधनम्'

तथा

"जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते
कार्या तथापि नासूया कृतार्थः सर्वथैव सः"

यह संक्षेप में भाव-भक्ति का प्रकरण हुआ। यही भाव-भक्ति अत्यंत प्रगाढ़ एवं स्निग्ध होकर प्रेमा-भक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है।

(३) प्रेमा-भक्ति

"सम्यङ्मसृणितस्वांतो ममत्वातिशयांकितः

भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते" (भ० र० सिं०)

यह प्रेमा-भक्ति दो प्रकार की होती है। (क) भाव-भक्ति से उत्पन्न (ख) हरि, हरिजन कृपा से प्राप्त।

(क) भाव-भक्ति से उत्पन्न प्रेमा-भक्ति। यथा—

"एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या

जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः

हसत्यथो रोदिति रौति गाय—

त्युन्मादवन्नृत्यति लोकवाह्यः" (भा० ११-२-४०)

अर्थात्, इस प्रकार अपने इष्ट के नाम, गुण, लीलादि का कीर्तन करता हुआ भाव-भक्ति-युक्त साधक प्रेमा-भक्ति प्राप्त करता है, जिसमें निम्नलिखित लक्षण प्रकट होते हैं।

प्रगाढ़-प्रेम के कारण हृदय पिघल जाता है। वह कभी हँसने लगता है, कभी रोने लगता है, कभी जोरों से चीत्कार करने लगता है, कभी नाम, गुणादि गाने लगता है, तथा कभी उन्मत्त की भांति निर्लज्ज हो कर आनंद में विभोर अचेतनावस्था में ही नाचने लगता है।

(ख) हरि, हरिजन-कृपा द्वारा प्राप्त प्रेमा-भक्ति। यथाः—

"ये नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः
अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः" (भागवत ११-१२-७)

अर्थात् जिन लोगों ने वेदादिकों का अध्ययन नहीं किया, एवं महान् महान् उपासनायें भी नहीं की, तथा व्रत, तपस्या आदि अनुष्ठान भी नहीं किया, ऐसे लोग भी महापुरुषों की कृपा से ही सत्संग के द्वारा प्रेम प्राप्त कर लेते हैं। अभिप्राय यह कि पूर्व-संस्कारों से युक्त होने के कारण महापुरुषों की कृपा के पात्र होते हैं। अतएव महापुरुषों के सत्संग से ही सहसा प्रेमा-भक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। किंतु, ऐसे उदाहरण इने गिने ही होते हैं।

नेता श्रीकृष्ण के ६४ गुण

अब मैं रसिकशिरोमणि नायक श्रीकृष्ण के विशिष्ट गुणों का वर्णन करता हूँ। श्रीकृष्ण में चौसठ गुण रहते हैं। यथा :—

"अथ नेता सुरम्यांगः सर्वसल्लक्षणान्वितः
रुचिरस्तेजसा युक्तो वलीयान् वयसान्वितः"
.................................से लेकर
"नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान्
वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्तिताः" (भ० र० सि०)

अर्थात् सुन्दर अंग वाले, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, मनोहर, तेजस्वी, बलवान्, युवावस्था वाले, (युवावस्था वाले से) स्त्रियों के मन को हरने वाले, सब से पूज्य, ऐश्वर्य-युक्त, श्रेष्ठ, समर्थ, आदि पचास गुणों वाले श्रीकृष्ण हैं। उपरोक्त पचास गुण श्रीकृष्ण के अतिरिक्त योगीश्वरों में भी होते हैं।

अब हम पांच गुण ऐसे बताते हैं, जो कि श्रीकृष्ण के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड-नायक शंकर आदि में भी होते हैं। यथा :—

"सदास्वरूपसंप्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः
सच्चिदानंदसान्द्रांगः सर्वसिद्धिनिषेवितः" (भ० र० सि०)

अर्थात् सदा अपने ही स्वरूप में स्थिर रहने वाले, सब कुछ जानने वाले, नित्य ही नवीन रूप वाले, सच्चिदानंद-मय दिव्य देह वाले, समस्त सिद्धियों से उपास्य।

अब पांच गुण ऐसे बता रहे हैं, जो श्रीकृष्ण के अतिरिक्त महाविष्णु में भी रहते हैं। यथा:—

"अविचिन्त्यमहाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः
अवतारावलीवीजहतारिगतिदायकः
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णे किलाद्‌भुताः" (भ० र० सि०)

अर्थात् मन-बुद्धि से अतर्क्य शक्ति रखने वाले, अनन्त कोटि-ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करने वाले, बार बार अवतार लेने वाले, दैत्यों को मार कर उन्हें मुक्त करने वाले, आत्माराम-सनकादिकों के भी मन को खींचने वाले।

अब सुनो, चार उन गुणों को, जो केवल श्रीकृष्ण में ही रहते हैं।

"सर्वाद्‌भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः
अतुल्य-मधुर-प्रेम मण्डित-प्रिय-मण्डलः
त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरलीकलकूजितैः
लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्ये वेणुरूपयोः" (भ० र० सि०)

अर्थात् लोकातीत-आश्चर्यों से युक्त-चमत्कारों द्वारा अनंत अलौकिक लीलाओं को करने वाले, जनके प्रेम-माधुर्य्य की समानता कोई नहीं कर सकता, ऐसे अपने प्रिय ब्रज-परिकर से युक्त मुरली की मधुर-ध्वनि से समस्त विश्व को मोहित करने वाले, वेणु एवं रूप-माधुर्य की परम-प्रियता से लीला-माधुरी में प्रवृद्धि करने वाले।

यह तो साहित्यिक-दृष्टिकोण से गुणों का दिग्दर्शन मात्र है। वस्तुतस्तु उनके गुणों को कौन गिन सकता है? तथा कौन समझ सकता है? गौराङ्ग महाप्रभु की उक्ति के अनुसार "श्री कृष्णेर अंनत शक्ति" अर्थात् उनकी शक्तियाँ असंख्य हैं, तथा प्रेमी महापुरुष उन्हीं की समस्त शक्तियों से युक्त होता है।

लीला-माधुर्य के अनुसार, वृन्दावन में श्रीकृष्ण का पूर्णतम प्रेम-स्वरूप प्रकट हुआ था, क्योंकि वहां की लीलायें सर्वश्रेष्ठ प्रेम-माधुर्य युक्त थीं। मथुरा में श्रीकृष्ण का पूर्णतर प्रेम-स्वरूप प्रकट हुआ था, क्योंकि वहां श्रीकृष्ण की शक्तियों का प्राकट्य वृन्दावन से कम हुआ था, एवं द्वारिका में श्रीकृष्ण का पूर्ण स्वरूप प्रकट हुआ था, क्योंकि वहां सब से कम प्रेमादि शक्तियों से रहित अल्प-शक्तियों का ही प्राकट्य हुआ था। वस्तुतस्तु, द्वारिका में ऐश्वर्य-स्वरूप-प्राकट्य, मथुरा में ऐश्वर्य एवं प्रेम-स्वरूप-प्राकट्य, तथा वृन्दावन में पूर्ण प्रेम-प्राकट्य हुआ था। अतएव, द्वारिका, मथुरा, एवं वृन्दावन के श्रीकृष्ण उत्तरोत्तर विशेष माधुर्य-युक्त हैं।

———

सात्विक-भाव

"स्तंभः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभेदोऽथ वेपथुः
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः"

इन आठों सात्विक भावों में (स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कँपकँपी, रंग बदलना, आँसू, मूर्छा) कुछ विशेष बातें भी ज्ञेय हैं। देखो, जब साधक के एक या दो सात्विक-भाव प्रकट होते हैं, तब उसे धूमायित सात्विकभाव समझना चाहिये, एवं जब साधक के दो या तीन सात्विक-भाव साथ ही प्रकट हों, तब उसे ज्वलित सात्विकभाव समझना चाहिये। जब साधक के तीन या चार या पाँच सात्विक-भाव एक साथ ही प्रकट हों, तब उसे दीप्त-सात्विकभाव समझना चाहिये। जब साधक के पांच या छह या सात या समस्त सात्विकभावों का एक साथ ही उदय हो, तब उसे उद्दीप्त सात्विकभाव समझना चाहिये।

धूमायित सात्विकभाव छिपाया जा सकता है, तथा साधक को छिपाना भी चाहिये। ज्वलित सात्विकभाव कठिनता-पूर्वक छिपाया जा सकता है, साधक को इस अवस्था में भी छपाने का प्रयत्न करना चाहिये, किन्तु यदि ज्वलित सात्विकभाव का वेग अधिक हो जाता है, तब वह छिपाया नहीं जा सकता। भाव यह कि जहाँ तक हो सके, सात्विक भावों को लोक के समक्ष छिपाना चाहिये,

फिर भी यदि न छिप सके, तब उसकी कोई चिंता नहीं। दीप्त सात्विकभाव प्रकट होने पर साधक किसी भी प्रकार नहीं छिपा सकता, उद्दीप्त सात्विक-भाव में तो प्रश्न ही क्या है। यही उद्दीप्त सात्विक भाव ही सूद्दीप्त संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। इसे ही महाभाव कहते हैं। इसका प्राकट्य केवल राधिका जी में होता है।

(१) स्वकीया (नायिका)

अब मैं तुम्हें स्वकीया, परकीया भाव का भी कुछ विषय संक्षेप में बताऊंगा। ध्यान देकर सुनो। श्रीकृष्ण की स्वकीया १६१०८ (सोलह हजार एक सौ आठ) द्वारिकास्थ रानियाँ हैं। इनमें प्रत्येक रानियों के एक एक हज़ार सखियाँ हैं, जो प्रायः उन रानियों के ही तुल्य- गुण-रूप वाली है, एवं प्रत्येक रानियों के एक एक हज़ार दासियाँ हैं, जो उन रानियों से कुछ कम गुण-रूप वाली हैं। इन रानियों में आठ पटरानियाँ हैं।

१ **रुक्मिणी**—राजा भीष्मक की पुत्री हैं, जिनको उनके रुक्मादि भाइयों से युद्ध करके श्रीकृष्ण लाये थे।

२ **जाम्ब्रवती**—जाम्ववान् की कन्या हैं, जो कि त्रेतायुग में रामावतार में भी थे, जिनको स्यमन्तक मणि के हेतु जाम्ववान् से युद्ध करके श्रीकृष्ण लाये थे।

३ **सत्यभामा**– सत्राजित् यादव की कन्या हैं, जिनको भी श्रीकृष्ण उपरोक्त रीति से लाये थे।

४ कालिन्दी—सूर्य की बेटी हैं, जिन्होंने स्वयं तप करके श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था।

सत्या—काशी के नग्नजित् की कन्या हैं, जिनको सात बैलों को एक रस्सी में नाथने की प्रतिज्ञा-पूर्ति द्वारा लाये थे।

मित्रवृन्दा—उज्जैन के राजा की कन्या हैं, जिन्हें स्वयंबर द्वारा लाये थे।

भद्रा—गय देश की राज-कन्या हैं, जिन्हें भी स्वयंवर द्वारा लाये थे।

लक्ष्मणा—भद्र देश की राज-कन्या हैं, जिन्हें भी स्वयंवर द्वारा लाये थे।

(२) परकीया (नायिका)

परकीया दो प्रकार की होती हैं। (क) कन्यायें (ख) विवाहिता

"कन्यकाश्च परोढाश्च परकीया द्विधा मताः" (उ० नी०)

कन्यायें तो वे थीं, जिन्होंने कात्यायनी-ब्रत किया था। विवाहिता वे थीं, जिनका विवाह गोपों से हो चुका था। इन परकीया-भाव-युक्त गोपियों की तीन अवस्थायें हैं।

"तास्त्रिधा साधनपरा देव्यो नित्यप्रियास्तथा" (उ० नी०)

अर्थात् (क) साधनपरा (ख) देवियाँ (ग) नित्यप्रिया।

(क) **साधनपरा गोपियां**—दण्डकारण्य के मुनि एवं वेद की ऋचायें हैं।

"समंतात्सूक्ष्मदर्शिन्यो महोपनिषदोऽखिलाः
गोपीनां वीक्ष्य सौभाग्यमसमोर्ध्वं सुविस्मिताः
तपांसि श्रद्धया कृत्वा प्रेमाढ्या जज्ञिरे ब्रजे
वल्लव्य इति पौराणी तथोपनिषदी प्रथा" (उ० नी०)

(ख) देवियां—ये देवियां नित्यसिद्धा गोपियाँ थीं। ये सब सखी बन कर अवतरित हुईं थीं।

(ग) नित्यप्रिया—राधिका, चन्द्रावली, आदि। यथाः—

"राधाचंद्रावलीमुख्याः प्रोक्ता नित्यप्रिया ब्रजे" (उ० नी०)

उन समस्त नित्य-प्रिया गोपियों में भी सर्वप्रमुख राधा, तत्पश्चात् चन्द्रावली हैं। राधा तो श्रीकृष्ण की आत्मा ही हैं, जो कि सर्वश्रेष्ठ महाभाव-स्वरूपा हैं। यथाः—

"महाभावस्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी" (उ० नी०)

सर्वश्रेष्ठ महाशक्ति, ह्लादिनीशक्ति हैं। ह्लादिनीशक्ति के भी सारभूत प्रेम के भी सारभूत-तत्व का नाम राधा है। यथाः—

"ह्लादिनी या महाशक्तिः सर्वशक्तिवरीयसी
तत्सारभावरूपेयमिति तंत्रे प्रतिष्ठिता"

इन राधिका जी की पाँच प्रकार की सखियाँ होती हैं। यथाः—
(१) सखी (२) नित्यसखी (३) प्राणसखी (४) प्रियसखी (५) परमश्रेष्ठसखी।

"सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च काश्चन
प्रियसख्यश्च परमश्रेष्ठसख्यश्च विश्रुताः" (उज्वल-नीलमणि)

(१) सखियाँ—कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा आदि हैं।

(२) नित्यसखियाँ—कस्तूरी, मणिमंजरिका आदि हैं।

[३] प्राणसखियाँ—शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि हैं।

[४] प्रियसखियाँ— कुरङ्गाक्षी, सुभद्रा, मदनोलसा, कमला, माधुरी, मज्जुकेशी, कन्दर्प-सुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, शशिकला, आदि हैं।

(५) परमश्रेष्ठसखियाँ—ललिता, विशाखा, चित्रा, चंपकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी, सुदेवी हैं, इन्हीं को अष्टमहासखी भी कहते हैं। ये अष्ट महासखियाँ सर्वोपरि समस्त यूथों की नायिका हैं।

नायिका की आठ अवस्थायें :—१ अभिसारिका २ वासक-सज्जा ः उत्कण्ठिता ४ खण्डिता ५ विप्रलब्धा ६ कलहान्तरिता ७ प्रोषित प्रेयसी ८ स्वाधीन भर्तृका।

१ **अभिसारिका**—जो अपने प्रिय के संकेत द्वारा किसी निश्चित स्थान पर मधुर-मिलन के हेतु जाती है।

२ **बासकसज्जा**—जो अपने प्रिय के मधुर-मिलन के हेतु कपड़े आदि का शृंगार किये तैयार रहती है।

३ **उत्कण्ठिता**—जो केवल प्रिय-मधुर-मिलन की ही उत्कण्ठा में खड़ी रहती है।

४ खण्डिता—जो प्रिय के बताये हुये संकेत-स्थल पर प्रियतम को नहीं पाती है।

५ विप्रलब्धा—जो अपने प्रिय को रति-रस के चिह्नों से युक्त पाती है।

६ कलहान्तरिता—जो अपने प्रिय को सखियों के समक्ष ही अपने पैरों पर पड़ा हुआ देखती है, तथा पश्चात्ताप करती है।

७ प्रोषित प्रेयसी—जो विदेश में गये हुये अपने प्रिय से वियुक्त हो जाती है।

८ स्वाधीन भर्तृका—जो अपने प्रिय को अपनी रूप-माधुरी आदि से वश में कर लेती है।

स्थायीभाव

"स्थायिभावोऽत्र शृंगारे कथ्यते मधुरा रतिः" (उ० नी०)

अर्थात् शृंगार में स्थायी-भाव मधुर-रति कहा जाता है। अधोनिर्दिष्ट कारणों से स्थायी-भाव का प्राकट्य होता है।

"अभियोगाद्विषयत: संबंधादभिमानतः
सा तदीयविशेषेभ्य उपमातः स्वभावतः
रतिराविर्भवेदेषामुत्तमत्वं यथोत्तरम्" (उ० नी०)

अर्थात् अभियोग से, विषय से, संबन्ध से, अभिमान से, तदीयविशेष से. उपमा से, स्वभाव से, उपरोक्त रति का प्राकट्य होता है।

१ अभियोग से—अर्थात् अपने या दूसरे के भगवदीय निमित्त-कारणों से भाव-प्राकट्य।

२ विषय से—अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के भगवत्-संपर्क से भाव-प्राकट्य।

३ सम्बन्ध से—मैं अपने प्रिय के ही वंश का हूँ। अतएव तत्संबन्धी-कारण से भाव-प्राकट्य।

४ अभिमान से—अर्थात् वे मेरे हैं। उनको मेरा ही होना पड़ेगा। ऐसा विशुद्ध अभिमान।यथाः—

"जनम कोटि लगि रगरि हमारी* वरौं शंभु नतु रहौं कुमारी"

५ तदीयविशेष से—प्रियतम के चरण-चिह्न, धाम, एवं उनके जनों के दर्शन द्वारा भाव-प्राकट्य।

६ उपमा से—अर्थात् वे मेरे ही समान तो हैं। इस भावना द्वारा भाव-प्राकट्य।

७ स्वभाव से—स्वभाव वह है, जो बाहर के हेतु की अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वभाव तीन प्रकार का होता है। (क) निसर्ग-अत्यन्त दृढ़ाभ्यास से उत्पन्न संस्कार-विशेष को निसर्ग कहते हैं। (ख) स्वरूप-जो अभ्यासादि-जन्य नहीं होता, वरन् अपने आप ही भाव-प्राकट्य होता है। (ग) स्वभाव-यह तो स्वभाव सिद्ध है ही।

विलासादि-आधिक्य से ही अभियोगादि कई कारण बताये गये हैं। वस्तुतस्तु, ब्रज गोपियों का स्वाभाविक अनुराग ही था। अभियोगादि का कारण तो एक व्याज (बहाना) मात्र है।

यह मधुर-रति तीन प्रकार की है। (क) साधारणी-यह सुलभ है। (ख) समंजसा-यह दुर्लभ है। (ग) समर्था-यह किसी किसी को ही प्राप्त होती है।

(क) साधारणी रति- कुब्जादि में थी। इसमें अपनी इच्छा-पूर्ति का ही लक्ष्य रहता है। यह मणि के समान है।

(ख) समंजसा रति-रुक्मिणी आदि पटरानियों में थी। इसमें सकामता एवं निष्कामता दोनों का ही मिश्रण रहता है। यह चिन्तामणि के समान है।

(ग) समर्थारति-गोकुल देवियों में थी। इसमें पूर्ण निष्कामता होती है। यह कौस्तुभमणि के समान है, तथा यह किसी किसी बड़भागी को ही मिलती है।

(क) साधारणी रति-यथा :—

"नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसंभवा" (उ० नी०)

अर्थात् कुब्जादि की साधारणी-रति अत्यंत प्रगाढ़ नहीं होती, क्योंकि यह प्रिय के दर्शनादि से उत्पन्न होती है। अतएव –

"असांद्रत्वाद्रतेरस्याः संभोगेच्छा विभिद्यते
एतस्या ह्रासतो ह्रासः तद्धेतुत्वाद्रतेरपि" (उ० नी०)

अर्थात् यह साधारणी रति अत्यंत प्रगाढ़ न होने के कारण एवं सकाम होने के कारण कामना-पूर्तिकाल में तो प्रगाढ़ होती है। पश्चात् न्यून या क्षीण हो जाती है। क्योंकि उपरोक्त रति के कारण का अब अभाव हो गया।

[ख] समंजसारति यथा :—

"पत्नीभावाभिमानत्वाद्गुणादिश्रवणादिजा"
क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समंजसा"

(उ० नी०)

अर्थात् समंजसा रति— "मैं उनकी पत्नी हूँ। इस अभिमान से युक्त होती है, तथा अपने प्रिय के गुणादि सुनने से उत्पन्न होती है, उसमें कभी कभी सकामता भी आजाती है, तथापि यह रति प्रगाढ़ होती है।

(ग) समर्था रति--

"इत्यस्यां कृष्णसौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः" (उ० नी०)

अर्थात समर्था-रति में प्रेमिका एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने का ही लक्ष्य रखती है। अपनी कोई इच्छा नहीं रखती। अतएव समर्था-रति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। यही रति प्रगाढ़ हो कर क्रमशः बढ़ती जाती है। एवं क्रम से प्रेमा-भक्ति, स्नेह-भक्ति, मान-भक्ति, प्रणय-भक्ति, राग-भक्ति, अनुराग-भक्ति, भाव (आवेश) भक्ति आदि अवस्थाओं को प्राप्त हो जाती है। जैसे क्रमशः गन्ने का रस, गुड़, खाँड़, शकर, चीनी, मिश्री, आदि का स्वरूप उत्तरोत्तर मधुर होता जाता है।

प्रेम के नष्ट होने के कारणों के आने पर भी जो प्रेम नष्ट नहीं होता, एवं प्रतिक्षण बढ़ता जाता है, उसे ही प्रेमा-भक्ति कहते हैं। प्रेमा-भक्ति की पराकाष्ठा ही स्नेह-भक्ति है। इसमें हृदय अत्यन्त ही द्रवीभूत हो जाता है। यह स्नेह-भक्ति भी दो प्रकार की हो जाती है (क) घृतस्नेह (ख) मधुस्नेह। यथा:—

"आत्यंतिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते
मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधु" (उ० नी०)

सारांश यह कि जिस प्रेयसी की यह भावना दृढ़ हो कि मैं तुम्हारी हूँ, वह घृत-स्नेह है। एवं जिस प्रेयसी की यह भावना दृढ़ हो कि तुम हमारे हो, वह मधु-स्नेह है। इन दोनों में मधु-स्नेह ही श्रेष्ठ है।

मान भक्ति की अवस्था में यही घृत स्नेह, उदात्तसंज्ञक हो जाता है, एवं मधु-स्नेह, ललितसंज्ञक हो जाता है। प्रणय अवस्था में यही घृतस्नेह एवं उदात्तमान, सुमैत्र्यसंज्ञक हो जाता है, एवं यही मधुस्नेह, ललित-मान, सुसख्यसंज्ञक हो जाता है। राग अवस्था में यही घृतस्नेह, उदात्तमान, सुमैत्र्य-प्रणय, नीलिम संज्ञक हो जाता है, एवं यही मधुस्नेह, ललितमान, सुसख्य प्रणय, रक्तिम संज्ञक हो जाता है। ये मधुस्नेह, ललितमान, सुसख्यप्रणय, रक्तिमराग, राधादि के हैं, एवं घृतस्नेह, उदात्तमान, सुमैत्र्यप्रणय, नीलिमराग, रुक्मिणी आदि के हैं। यही राग, आगे चल कर अनुराग अवस्था को प्राप्त हुआ, प्रियतम में नित्य नवीनता का अनुभव करता है। तत्पश्चात्, भाव (आवेश) भक्ति का प्राकट्य होता है।

भावभक्ति के दो भेद हैं। (क) रूढ़ भाव (ख) अधिरूढ़-भाव (क) रूढ़ भाव में उद्दीप्त सात्विक-भाव प्रकट होते हैं। रूढ़भाव :—प्रियतम के पलक-ओट होते ही असह्य-वेदना होना, बैठी हुई जनता के भी हृदय को विदीर्ण कर देना, प्रियतम के विना एक क्षण भी कल्प के समान बीतना, पराकाष्ठा की खिन्नता होना, प्रियतम के मधुर-मिलन समय में भी यह भय बना रहना, कि कहीं वियोग न हो जाय, मोहादि के अभाव में भी आत्म-विस्मरण हो जाना, मिलन के समय का एक कल्प भी एक क्षण के समान प्रतीत होना, इत्यादि यथाः—

"निमेषासहतासन्नजनताहृद्विलोडनम्

कल्पक्षणत्वं खिन्नत्वं तत्सौख्येऽप्यार्तिशंकया
मोहाद्यभावेऽप्यात्मादिसर्वविस्मारणं सदा
क्षणस्य कल्पतेत्याद्यास्तत्र योगवियोगयोः" (उ० नी०)

इसी रूढ़-भाव के ही अनुभाव अत्यन्त उद्दीप्त हो जाने पर अधिरूढ़-भाव के अनुभाव बन जाते हैं।

अधिरूढ़-भाव दो प्रकार का होता है :- (क) मोदन (ख) मादन।

[क] मोदन—इस में प्रियतम एवं प्रेयसी दोनों ही के एक साथ उद्दीप्त सात्विक-भाव उदय होते हैं। राधिका का व्यक्तिगत यूथ ही इस मोदन अवस्था पर पहुँचता है यथा—

"राधिकायूथ एवासौ मोदनो नतु सर्वतः" (उ० नी०)

यही मोदन, वियोगावस्था में मोहन-संज्ञक बन जाता है। यथा—

"मोदनोऽयं प्रविश्लेषदशायां मोहनो भवेत्" (उ० नी०)

इसमें अत्यन्त बिरह होने के कारण सूद्दीप्त सात्विक-भाव प्रकट हो जाते हैं। इसी अवस्था में रुक्मिणी आदि के गोद में लेटे हुये श्रीकृष्ण को भी राधास्मरण मात्र से वियोग-जन्य मूर्च्छा हो जाती है। इसी मोहन अवस्था की एक उच्चतम दिव्य-अवस्था ही दिव्योन्माद संज्ञा को प्राप्त हो जाती है।

"एतस्य मोहनाख्यस्य गतिं कामप्युपेयुषः
भ्रमाभा काऽपि वैचित्री दिव्योन्माद इतीर्यते" (उ० नी०)

दिव्योन्माद में चित्रजल्प, प्रजल्प, परिजल्पित, उज्जल्प संजल्प, अवजल्प, अभिजल्पित आजल्प, सुजल्प, अवस्थायें होती हैं। राधिका-सम्बन्धी भ्रमर-गीत इसी भाव का द्योतक है।

[ख] मादनः—

"सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा" (उ० नी०)

अर्थात् यह परात्पर मादनभाव, सर्वभावों को मादन देने वाला ह्लादिनी-शक्ति के भी सारतत्व का स्वरूप है। अतएव, यह मादन केवल राधिका जी में ही निवास करता है।

साधारणी रति की गति, प्रेमा-भक्ति तक ही है, समंजसा रति की गति अनुराग भक्ति तक ही है, समर्था रति की गति भाव (आवेश) तक है, यह हमने अत्यंत सक्षेप से भक्ति के विविध विषय बताये। रसिकों की बड़ी बड़ी बातें तुम अभी नहीं समझ सकोगे, क्योंकि तुम अभी उस कोटि के रस के अधिकारी नहीं हो। यह ब्रजरस, ज्ञानी, विज्ञानी परमहंस, आदि से भी अतीत-रस है। यह तो केवल ब्रजगोपियों के दासानुदास-रूप रसिक की कृपा से ही प्राप्त होता है। जो बड़भागी इस रहस्य को समझ लेता है, वह कभी न कभी इस रस का पान अवश्य कर लेता है।

अब तुम्हें कुछ फुटकर बातें भी बता दूं। तुमने कई बार

नामापराध शब्द को सुना होगा। वे नामापराध निम्नलिखित हैं :—

(१) सत्पुरुष-निन्दा

(२) शिवादि-नामों में भेद-भाव

(३) गुरु-निन्दा।

(४) शास्त्र-निन्दा।

(५) हरि-नाम को स्तुतिमात्र समझना।

(६) नाम के ओट में पाप करना।

(७) महापुरुषों के मुख से नाम का माहात्म्य सुनकर भी नाम में प्रेम न होना।

(८) महापुरुष की शरणागति का स्वाँग रचते हुये भी मैं मेरे में लगे रहना।

(९) यज्ञ, दानादि धर्मों से हरि-नाम की तुलना करना।

(१०) अश्रद्धालु को अंतरङ्ग रहस्यों का उपदेश करना।

ये १० नामापराध हैं। इनसे सदा ही सावधान रहना, तथा यह भी समझे रहना चाहिये कि इन समस्त नामापराधों में भी भगवद्भक्तों के प्रति किया हुआ अपराध भगवान् से भी सर्वथा अक्षम्य रहता है। इन नामापराधों का प्रायश्चित्त कोई भी वैदिक, पौराणिक, कर्म नहीं है। नामापराध को, या तो महापुरुष, अथवा हृदय से अपने आप को अपराधी मानकर भगवन्नाम-संकीर्तन करना ही क्षमा कर सकता है। यथा :—

"नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्"

सारांश का प्रकरण

मेरी राय में तो संसार में कोई नास्तिक है ही नहीं, न तो हो ही सकता है, क्योंकि गुप्त या प्रकट रूप से सभी, किसी न किसी ढङ्ग से ईश्वर को मानते ही हैं। जब वह स्वयं जीव है, तब ईश्वर को मानने न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। स्वयं ही ईश्वर या ईश्वर का अन्श है, उसे मानना क्या है?

यदि वह धन, पुत्र, प्रतिष्ठा आदि चाहता है, तब भी आनंद-प्राप्ति रूपी ईश्वर का ही उपासक है। यदि वह कुछ नहीं चाहता, तब भी वह पूर्णकाम-ईश्वररूप का ही उपासक है। यदि वह तटस्थ है, तब भी अपेक्षोपेक्षा-रहित ईश्वर को ही मान रहा है। विचार करने पर उपरोक्त तीनों ही सिद्धान्त समझ में आ सकते हैं।

संसार के समस्त मतावलंबियों में ऐसा कौन है? जो आनन्द के अस्तित्व को न मानता हो। किसी न किसी रूप से सभी आनन्द को मानते एवं उसके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" अर्थात् 'जब तक संसार में हैं, मौज उड़ावें, कर्ज करके भी घी पियें" इस सिद्धान्त के मानने वाले नास्तिक-सिरमौर चार्वाक् से लेकर चीन इयाङ्ग के ग्रीक के लूसियस, मध्य एशिया के सर्डेनेप्लस, रोम के

लुक्रिसिय पर्यन्त सभी संसार-सुख-भोग वादी इन्द्रिय विषयों के सुखों की ओर ही प्रवृत्त होते रहे। माध्यमिक, योगाचार, सैद्धान्तिक एवं वैभाषिक ये चारों प्रकार के बौद्ध, दिगंबर एवं श्वेतांबर दोनों प्रकार के जैन, रसेश्वर, प्रत्यभिज्ञ, पाणिनि, नकुलीश, पाशुपत आदि सभी मत-वादी निवृत्ति-सुख की अभिलाषा करते रहे। सांख्याचार्य महर्षि कपिल, योगप्रवर्तक महर्षि पतंजलि, वैशेषिकदर्शनकार महर्षि कणाद, न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम, पूर्वमीमांसाकार महर्षि जैमिनि आदि समस्त दार्शनिक गण भी आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति रूप सुख की ही कामना करते रहे। इनके अतिरिक्त प्लेटो, ऑरिष्टाटिल, डिडेरो, लामेट्री, कामत, मिल, लुइस्, येन, कारलाइल, वेन्थम्, हिलियक, ब्रैडला, फेरिस, टिंडल, बुकनर, मालेस्कोट, हिराक्लिटिस्, एनक्सेगोरस, प्लाटिनस्, स्पिंजा, एडमस्मिथ, एमपेडक्लिटिस् ष्टुअर्ट, हेमिल्टन, डिडेरट, हेगल, कैन्ट, ग्रीक आदि पाश्चात्य दार्शनिकगण भी आकर्षण-सत्तात्मक सुख की खोज में ही निरंतर लगे रहे। एक प्रकार से ये सभी सकाम भक्त ही तो थे, किंतु उनकी यह साधना उपयुक्त नहीं थी। अतएव पूर्णतया लाभ नहीं पा सके। सारांश यह कि भोगोन्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण असीम एवं अनंत काल वाले सुख से वे सब वंचित रहे। भुक्ति मुक्ति-सुख-कामना के परित्याग के बिना वह वास्तिविक आनन्द कैसे मिल सकता है। अतएव :—

"भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदिवर्तते

तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्"

ईश्वर नाम की कोई चीज़ नहीं हुआ करती। ईश्वर तो एक समर्थशक्ति का नाम है, जो सब कुछ है, एवं कुछ नहीं है। जो "सब कुछ है" ऐसा मानता है, वह भी आस्तिक है, एवं जो "कुछ नहीं है" ऐसा स्वीकार करता है, वह भी आस्तिक ही है। कारण यह है कि विश्व के समस्त जीव, प्रतिक्षण स्वाभाविक रूप से ही एकमात्र आनंद को ही चाहते हैं। वेदों में उसी आनन्द अथवा हर्ष को ईश्वर कहा गया है। यथा:—

"रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदीभवति" (तै० २-७)

अर्थात् वह ईश्वर रसस्वरूप है, उसी को प्राप्त कर जीव आनन्दमय होता है। तथा:—"विज्ञानमानंदं ब्रह्म" (बृ० ३-९-२८) अर्थात् ईश्वर ही विज्ञान एवं आनन्द का पर्यायवाची शब्द है। वस्तुतस्तु नास्तिक शब्द ही आस्तिक शब्द को सिद्ध करता है। अभाव ही तो भाव को सिद्ध करता है। जिस प्रकार दुःख ही सुख को प्रलय ही उत्पत्ति को सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार उपरोक्त बात भी समझ लेनी चाहिये। यह भी विचारणीय है कि हम जब तक अपनी वस्तु, आनन्द अथवा रस प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक हमारा कुछ भी चाहना निश्चित नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि उस आनन्द-प्राप्ति के निमित्त हमारी साधनायें भी विभिन्न हुआ करेंगी। आज कुछ चाहेंगे, कल कुछ चाहेंगे। अनन्त सुख की गोद में पहुँचने के पूर्व कुछ न कुछ चाहा करेंगे। अतएव, यदि कोई कहे कि हम आनन्द-प्राप्ति के निमित्त धन

ही, अथवा प्रतिष्ठा ही, अथवा और कुछ ही चाहा करेंगे, तो यह उसकी भूल है। क्योंकि यह सब वह अज्ञानता में ही चाहता है, जो कभी न कभी वास्तविक-आनन्दप्राप्त-महापुरुषों की कृपा से स्पष्ट हो जायगा, एवं जीव सत्य-साधना के द्वारा ईश्वर का अनुसंधान करेगा। इसके परिणाम-स्वरूप उसकी उपरोक्त चाहने चाहने की बीमारी सदा के लिये समाप्त हो जायगी।

विलक्षणता तो यह है कि हम एक क्षण को भी चुप नहीं रह सकते। अर्थात् अकर्ता नहीं रह सकते, बस, चाहा करेंगे, तथा उपरोक्त चाह के ही पूर्त्यर्थ सत्य अथवा असत्य साधनायें भी किया करेंगे। हमें ऐसा करने से कोई भी रोक नहीं सकता। भावार्थ यह कि स्वाभाविक रूप से ही असीम आनन्द-प्राप्ति के निमित्त कुछ न कुछ चाहा करेंगे, एवं निरन्तर ही तत्प्राप्त्यर्थ कुछ न कुछ साधनायें भी किया करेंगे, वह साधना सत्य हो, अथवा असत्य। अतएव, विचारणीय यह हो जाता है कि जब हम अल्पज्ञ हैं, तब हमारा निर्णय ही क्या सत्य होगा? आज हम यदि कहते हैं कि ईश्वर नहीं है तो यह भी तो कहीं न कहीं से सीख कर, पढ़कर, सुनकर ही कहते हैं। अपने आप उत्पन्न ज्ञान नहीं है, अतएव उपरोक्त असत्य-ज्ञान सदा स्थिर नहीं रह सकता। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों में प्रत्येक ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव का अपने आप उत्पन्न ज्ञान तो एकमात्र यही है कि मैं हूँ, तथा मैं जब तक अपनी वस्तु नहीं पा लूंगा, प्रतिक्षण प्रयत्न करूँगा, वह प्रयत्न सत्य हो अथवा असत्य। यदि सत्य होगा, तो वह असीम-आनन्द-प्राप्ति रूपी लक्ष्य

पर पहुँचा कर आनंदमय बना देगा, अर्थात् चाहने वाहने की बीमारी से मुक्त कर देगा, यदि असत्य होगा तो सदा ही बदलता रहेगा।

किंचित् विचार तो करो कि जब तुम उपरोक्त दो बातों के अतिरिक्त स्वाभाविक सत्य रूप से कुछ भी नहीं जानते, तब फिर भला उस अपने आनन्द की प्राप्ति के हेतु. ज्ञान का ही प्राकट्य अपने आप कहाँ से हो जायगा। लोक में भी अपने आप एक अक्षर तक का ज्ञान नहीं हो पाता, फिर लोकातीत-तत्वज्ञान ही अपने आप कैसे संभव होगा? भले ही कोई विश्व के समस्ततत्वों का ज्ञाता हो जाय, पर यह संभव नहीं कि उस समस्त सांसारिक-तत्वज्ञान से, आंशिक आध्यात्मिकतत्वज्ञान भी प्राप्त हो जाय। अरे! जब लौकिक अन्य विषयकज्ञान, अन्य विषयकज्ञान के बोध कराने में असमर्थ होता है, तब यही कैसे संभव है कि समस्त लौकिक-ज्ञान में भी आंशिक, एकदेशीय, अल्पज्ञ का अल्पज्ञान ही लोकातीत शुद्ध-ज्ञान करा देगा। हमें यह समझ लेना चाहिये कि किसी भी ज्ञान को प्रकट करने के लिये तद्ज्ञान-विषयक बहिरङ्ग सही साधना की आवश्यकता होती है, भले ही वह ज्ञान सूक्ष्म रूप से अपने ही भीतर स्थित क्यों न हो। सारा झगड़ा ज्ञान प्राकट्य की साधना में ही है। यदि साधना सत्य होगी, तो सत्यज्ञान, एवं जब साधना ही असत्य होगी तब असत्य ज्ञान की प्राप्ति होगी। तात्पर्य यह कि यदि हम अपनी माया-बद्ध सीमित-बुद्धि से ही यह निर्णय कर लेना चाहें कि आनन्द-स्वरूप

ईश्वरीय ज्ञान-प्राप्ति अमुक साधना से होगी, तब तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि हम को पूर्व में ही ईश्वरीय-ज्ञान प्राप्त था, अन्यथा भला, जब लोक में ही ऐसा नहीं होता, तब लोकातीत, भगवद्विषय में ही कैसे संभव है ? फिर यह भी विचारणीय हो जाता है कि यदि वह भगवत्प्राप्ति-संबंधी-ज्ञान हमारी लघुबुद्धि द्वारा ही सिद्ध हो जाय, तो फिर उस भगवान् को भी अपूर्ण कहना होगा। यदि यह सब सत्य होता अर्थात् हमारा ज्ञान भगवद्-ज्ञान के ही अनुरूप होता, तो फिर हम अशांत, अतृप्त, अपूर्ण आदि न होते हुये भगवान् के ही समान शांत, तृप्त, एवं पूर्ण आदि होते। दूसरी बात यह भी है कि यदि हम अपने में कुछ कमी नहीं समझते, तो ज्ञानादि-उपार्जन में परेशान क्यों रहते हैं ? शांत हो जायें। किंतु यह असंभव है। अतएव, यह मानना होगा कि ईश्वर को तो सभी मानते हैं, किंतु अल्पज्ञ होने के कारण ईश्वर को सही ढंग से वे नहीं जानते। अतएव ईश्वर-प्राप्ति की सत्य-साधना भी वे नहीं जानते। अतएव वे सत्य-साधना करते ही नहीं। अतएव तभी तो अनादि-काल से आजतक असीम-आनन्दप्राप्ति-रूपी लक्ष्य सिद्ध भी नहीं हुआ। हम सदा ही अपनी लघु बुद्धि द्वारा साधनाओं का निर्णय करते हैं, एवं असत्य साधनाओं को करते हुये उसका परिणाम भी भुगतते हैं। यही नाटक का स्वरूप सदा से चला आ रहा है।

Bertrand Russel "Principles of social reconstruction".

"The world has need of a philosophy or a religion which will promote life. But, in order to promote life, it is necessary to have some thing other than mere life. Life devoted only to life is animal, without any real human value, incapable of preserving men permanently from weariness. If life is to be fully human it must serve some end which seems in some sense, outside human life, some end which is impersonal and above mankind, such as God or Truth or Beauty. Those who best promote life do not have life for their purpose. They aim rather at what seems like a gradual incarnation, a bringing into our human existence of something eternal, something that appeals to imagination to live in, a heaven remote from life and failure and the devouring Jaws of time. Contact with the eternal World even if it be only a world of our imagining brings a strength and a fundamental peace which can not be wholly destroyed by struggles and apparent failures of temporal life. It is this happy contemplation of what is eternal that Spinoza calls the intellectual love of God. To those who have once known it, it is the key to wisdom. What we have to do practically is different for each one of us, according to our capacities and opportunities. But if we have the life of spirit

within us, what we must do and what we must avoid will become apparent to us"

अर्थात् संसार को एक ऐसे दर्शन या धर्म की आवश्यकता है, जो जीवन को उन्नत बनाने वाला हो, किन्तु जीवन को आनन्द-मय-रूप उन्नत बनाने के हेतु एकमात्र प्राण-धारण करने के व्यापार के अतिरिक्त भी किसी अव्यंक्त दूसरी वस्तु की आवश्यकता है। जो एकमात्र जीवन के प्राण धारण के लिये ही होता हो, वह तो पशु जीवन है। वह मनुष्य के वास्तविक महत्त्व से हीन होता है। ऐसा जीवन मनुष्य को सदा क्लेश से नहीं बचा सकता। हमारा जीवन यथार्थ मानव-जीवन तभी कहलाता है, जब वह किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति का साधन बन जाता है, जो एक प्रकार से मनुष्य जीवन के बाहर की वस्तु ज्ञात होती है, जिसका हमारे व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता। फिर वह उद्देश्य चाहे शिव (ब्रह्म) हो सत्य हो सुन्दर हो। जो लोग अपने जीवन को उन्नत बनाते हैं, उनका जीवन उन्हीं के लिये नहीं होता। उनका लक्ष्य यह होता है कि हमारा जीवन क्रमशः अवतार-रूप बन जाय। हमारे मानव-जीवन का उस शाश्वत-जीवन से सम्बन्ध हो जाय, जिसकी कल्पना ही मनुष्य को आनन्द दायक होती है। जो निरतिशय सुख-स्वरूप हमारे असफलता-पूर्ण जीवन से परे की वस्तु है, एवं जहां सर्वभक्षक काल की भी गति नहीं है, उस शाश्वत जगत के साथ सम्पर्क होने से, चाहे वह हमारी कल्पना का ही विषय हो, वास्तविक शान्ति वृत्ति है। जिसका ऐहिक जीवन के घमासानों तथा दिखाऊ

असिद्धिओं से सर्वथा नाश नहीं होता। सनातन-तत्त्व के उस आनन्ददायक ध्यान को ही, स्पिनोज़ा (Spinoza) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ने, परमात्मा की बौद्धिक भक्ति (Inter-natural love of God) कहा है। जिसने उसे एक बार भी जान लिया, उसके हाथ में तो मानों ज्ञान की कुंजी ही आ गई। अवश्य ही हम लोगों में से प्रत्येक के लिये अपनी-अपनी योग्यता एवं अवसर के अनुसार साधना की विभिन्नता है, किंतु यदि हमारा वास्तविक जीवन आन्तरिक आध्यात्मिक नहीं है, तो फिर हमारे लिये क्या कर्तव्य है, और क्या निषिद्ध है, यह अपनेआप ही स्पष्ट होता जायगा।

ईश्वर हो न हो, उसे हम मानें न मानें, किंतु यह बात अवश्य है कि हम अपने आप को अनुभव करते हैं, एवं अपने अज्ञात-वास्तविक परमानन्द को प्राप्त करने के निमित्त प्रतिक्षण परेशान भी हैं। अर्थात् किसी न किसी रूप से प्रतिक्षण साधना भी करते हैं, किंतु खेद की बात यह है कि साधना का निर्णय अपने आप करते हैं। अस्तु, अब तक जो हुआ सो हुआ। आओ ! अब हम तुम सब मिलकर यह पता लगावें कि वह सुख कैसे मिलेगा ? पता लगाने में जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होगी, हम सब मिलकर उसका संग्रह करेंगे, शास्त्रों में पढ़ेंगे, महापुरुषों से पूछेंगे, कुछ स्वयं सोचेंगे, इस प्रकार पता लग ही जायगा। भावार्थ यह कि संसार की असारता के विषय में अनुभव होने के कारण हम सोचेंगे। महापुरुषों आदि के परिचय के विषय में शास्त्रों को पढ़ेंगे।

एवं भगवत्तत्वज्ञानी महापुरुषों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करेंगे। आखिर जब हम संसार के समस्त विषयों के ज्ञान एवं प्राप्ति के निमित्त अनंतानंत जन्मों से पूछताछ एवं प्रयत्न करते आये हैं, तब, संसारातीत भगवद्विषय के लिये ऐसा करने में एतराज़ ही क्या है? हाँ, यदि वह सुख ईश्वर में ही निकला, अथवा ईश्वर का पर्यायवाची शब्द ही सिद्ध हुआ, तब हमें ईश्वर से ऐसी क्या शत्रुता है? कि ईश्वर को छोड़ कर ही हम सुख की प्राप्ति का उपाय ढूढ़ेंगे। अथवा मानेंगे, अथवा करेंगे। यदि ऐसा है, तब तो वह नास्तिक ईश्वर को भी पूर्णतया मानता है। तभी तो शत्रुता करता है, यदि ईश्वर का अस्तित्व ही न मानता, तब तो ईश्वर नाम से चिढ़ता ही क्यों? अरे भाई! तुम्हें सुख ही तो चाहिये, वह जहाँ भी मिले, यदि तुम पूर्व में ही निश्चित कर लोगे कि ईश्वर में वह सुख नहीं है, तब तो तुम्हारा पक्ष, निष्पक्ष नहीं सिद्ध होगा। अतएव, पता लगाने पर जहाँ भी, जैसे भी, हमारा सुख मिले, वहाँ ही, वैसे ही, हम जायँ, चाहे वह ईश्वर हो, चाहे संसार, चाहे और कुछ। हम सब को न ईश्वर से घृणा होनी चाहिये, न संसार से, न और किसी से। क्योंकि हमको तो अपने सुख से मतलब है।

अच्छा तो पहले संसार की ओर ही चलो, क्योंकि संसार का अनुभव भलीभाँति सब को है। यदि यह सिद्ध हो जाय कि संसार में वह सुख नहीं है, तब यह मानना ही होगा कि कहीं और ही है। फिर उसका पता लगायेंगे।

संसार का स्वरूप

संसार, किसी मनुष्य, पशु, पत्ती, नदी, पहाड़ आदि का नाम नहीं है। संसार दो प्रकार का होता है, एक अपने भीतर रहने वाला, जो मुख्य है। एवं दूसरा भीतर वाले संसार को बढ़ाने वाला, सामग्री स्वरूप है, जो गौण है। तात्पर्य यह कि तुम अभी तक जो कुछ भी चाहते थे, वह सब इन्द्रियों का ही विषय था। उदाहरणार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि, उसी का क्षेत्र ही तो सम्पूर्ण संसार है। अपने भीतर वाली इन्द्रियों के विषयों को हम बाहर जहाँ जहाँ भी पाते हैं, वह सब संसार है। एक एक इन्द्रिय के विषय के निमित्त, जितना जितना भी सामान बाहर मिलता है, वही सब तो संसार है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि संसार का वास्तविक स्वरूप तो हमारे ही भीतर इन्द्रिय-चक्षु आदि में है, बाहर वाला संसार तो उसका विषय है, जो कि सामग्री-स्वरूप ही है। वह बाहर वाला संसार, भीतर वाले संसार के अनुसार ही फल प्रदान करता है। बाहर वाले संसार के अभाव में भीतर वाले संसार का अभाव हो जाय, यह आवश्यक नहीं, किंतु भीतर वाले संसार के अभाव में बाहर वाले संसार का अभाव निर्विवाद सिद्ध है।

अब तुम यह सोचो कि तुम अपना सुख चाहते हो, अथवा इन्द्रियों का ? यदि कहो, कि हम अपना सुख चाहते हैं, तब तो तुम ग़लत साधना कर रहे हो। फिर तुम अनंतानंत जन्मों से अनुभव भी कर चुके हो कि इन्द्रियों को बाह्य सांसारिकसुख कितना भी क्यों न दिया जाय, उनका पेट नहीं भरता, वरन् बढ़ता ही जाता है, तब तो विचारणीय हो जाता है कि कोई धोखा है। आश्चर्य यह है कि तुम अनन्त बार धोखा खाकर भी इस धोखे को नहीं समझ सके, वरन् धोखे में पड़ते ही जा रहे हो। यदि कोई कहे कि हम तो यह समझते हैं कि इन्द्रियों के सुख पा लेने पर ही हम सुखी हो जायेंगे, तब तो यह वैसी ही बात हुई, जैसे कोई कहे कि देवदत्त ने खाना खाया, किन्तु पेट रामदत्त का भरा। भावार्थ यह कि तुम्हें यह सोच लेना चाहिये कि तुम्हारी इन्द्रियाँ हैं, तुम इन्द्रिय नहीं हो। फिर तुम्हारी इन्द्रियों के सुख से तुम कैसे सुखी हो सकोगे ? क्या ख़ासा मज़ाक है !

अब यह पता लगाना होगा कि इन्द्रियों के ऊपर भी उनका कोई शासक है कि नहीं ? यदि है, तो कौन है ? बुद्धिमान्‌जन कहते हैं कि इन्द्रियों के ऊपर शासक, मन है, वही मन, इन्द्रियों को अपनी इच्छानुसार चलाता है। वह जैसा चाहता है, इन्द्रियाँ वैसा ही करती हैं। यदि मन नहीं चाहता, तो इन्द्रियाँ कुछ भी नहीं कर पातीं। जैसे आप सामने तो देख रहे हैं, चक्षु-इन्द्रिय के समक्ष कोई विशेष-पदार्थ तो है, किंतु आप किसी चिंतन में व्यग्र हैं,

अतएव आपको उस वस्तु के दर्शन का लाभ भलीप्रकार नहीं हो पाता, इसी प्रकार आप कुछ सोच रहे हैं, किंतु कर्णेन्द्रिय पास ही में बोलते हुये किसी व्यक्ति के शब्दजन्य-विषय को नहीं ग्रहण कर पाती। इस प्रकार मन ही प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। बेचारी इन्द्रियों का दोष ही क्य है ? हाँ, इतना अवश्य है कि इन्द्रियों से जब बाह्य-सांसारिकविषयों का प्रत्यक्ष होता है, तभी मन विशेष चलायमान होता है, किन्तु विना इन्द्रियों के विषयों के प्रत्यक्ष होते हुए भी चिन्तन द्वारा मन चलायमान हुआ ही करता है। अतएव, इन्द्रियों पर पूर्ण एकाधिकार मन का ही है।

अब यह पता लगाना है कि इस मन के ऊपर भी कोई शासक है अथवा नहीं ? सज्जनों की ही राय से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मन के ऊपर शासिका, बुद्धि के निर्णय के बिना मन कुछ भी नहीं कर सकता। वह चाहा करे, उसके चाहने से होता ही क्या है ? जब तक बुद्धिदेवी की आज्ञा न होगी, तब तक इन्द्रिय-सेनाओं के सेनापति, मनीराम कर ही क्या सकते हैं ? तुम अनुभव करते होगे कि तुम्हारा मन चाहता है, "मैं इस समय यह कार्य न करूं, अथवा यह कार्य कर डालूँ, किन्तु बुद्धि कहती है "नहीं, नहीं, ऐसा न करने से हानि एवं ऐसा करने से हानि है, अतएव इसे करो, तथा इसे न करो!" बस, फिर तुम बुद्धिके अनुसार ही कार्य करने लगते हो। विशेष बुद्धिमानों की बात जाने दीजिये। एक पांचवर्ष का अल्पज्ञ बालक भी जब स्कूल जाता है, एवं उसे

मार्ग में नेत्रेन्द्रिय के द्वारा मिठाई की दूकान दिखाई पड़ती है, तब रसनेन्द्रिय की रुचि के अनुसार उसके प्रार्थना पत्र पर मन भी हस्ताक्षर कर देता है, परिणाम-स्वरूप ज्यों ही प्रान्तीय सरकार का राज्यपाल (Governor of provincial Government) "मन" हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियों को आज्ञा देना चाहता है कि मिठाई उठा कर मुख में डाल लो, त्यों ही समस्त देश की स्वामिनी (Governor General & King) "बुद्धि" निर्णय देती है, अर्थात् उसका तार (Telegram) आता है। "खबरदार मन ! ऐसा न करने देना, नहीं तो याद रखो, अभी ही तुम्हारे कपाल की जूतों से विधिवत् पूजा हो जायगी"। बुद्धिदेवी की इस आज्ञा पर मनीराम तत्क्षण ही इन्द्रियों पर [कर्फ्यू आर्डर (Curfew order)] प्रतिबंध लगा देते हैं, परिणाम-स्वरूप इन्द्रियां चुप हो जाती हैं। पुनः इन्द्रियों की राय से मनीराम, बुद्धि से अपील करता है कि यदि उपरोक्त पूजा के विना ही मिठाई मिलने का कोई उपाय हो, तो बताइये, असीम अनुकम्पा होगी। अपील खारिज करती हुई बुद्धिदेवी निर्णय देती है कि मिठाई पाने का एकमात्र उपाय पैसा ही है, और वह इस समय सरकार (Government) के पास नहीं है, अतएव अंतिम निर्णय (Last judgement) दिया जाता है कि बस, सीधे स्कूल चले चलो। बुद्धि की आज्ञानुसार मन ने विवश हो कर इन्द्रियों से स्कूल की ओर चलने का कार्य प्रारम्भ करा दिया। देखो, वह पांच वर्ष का अत्यल्पज्ञ बालक भी बुद्धि के द्वारा इन्द्रिय एवं मन को जीत कर सीधा स्कूल चला

गया। इसी प्रकार, प्रत्येक क्षण तुम अनुभव करते हो कि मन के चाहने, न चाहने से कुछ नहीं होता, जो बुद्धि चाहती है, वही होता है। यदि यह सत्य है, तब तो पूर्ण उत्तरदायित्व (Full responsibility) बुद्धि पर ही आजाता है। अतएव, अब हमें बुद्धि पर ही विशेष विचार करना है, क्योंकि बुद्धि की ही अच्छाई या बुराई पर, मन एवं इन्द्रियों की अच्छाई, बुराई निर्भर है।

बुद्धि, एक बर्तन है, जो अच्छाई, बुराई को ग्रहण किया करती है। यदि बुद्धि-पात्र में अच्छाई भरगई, तो मन एवं इन्द्रियाँ, अच्छाई से युक्त हो गईं। यदि बुराई भर गई, तो मन एवं इन्द्रियां, बुराई से युक्त हो गईं अर्थात् उनसे तत्तत् कार्य होने लगे। अब यह सोचना है कि बुद्धिपात्र में अच्छाई भरी कैसे जाय? यह स्मरण रहे कि बुद्धि में अच्छाई या बुराई भरने का अधिकार, आपको पूरा पूरा है, यह आपका दैनिक अनुभव भी है। वस्तुतः अच्छे लोगों से ही अच्छाई, तथा बुरों से ही बुराई आती है। यह अटल नियम है।

अब अच्छे लोग कौन हैं? यह पता लगाना है। अच्छे लोग वे ही तो हैं, जिनको वही अपनावाला अनन्तसुख मिल गया हो। वे ही बता सकते हैं कि अरी अनादिकाल की भ्रमितबुद्धि! तुझे अमुक मार्ग से जाने पर ही आत्मा का वह आनन्द-नगर मिलेगा, जहाँ पहुँच कर अपनावाला लक्ष्य सिद्ध हो जायगा। सीधी सी बात है, जो स्वयं गुमराह हैं, वे बेचारे किसी गुमराह को राह क्या बतायेंगे। एक शायर कहता है :—

"राही कहीं है, राह कहीं, राहेबर कहीं
ऐसा भी कामयाब हुआ है सफ़र कहीं"

अतएव, उन अच्छे लोगों से ही सत्यमार्ग का ज्ञान होगा। उन्हीं अच्छे लोगों को तो महापुरुष कहते हैं, क्योंकि वे ही समस्त पुरुषों में महान् होते हैं। वास्तव में उन्हीं लोगों ने तो महान्सुख को प्राप्त किया है। महान्सुख से मेरा अभिप्राय है "विराट् अथवा अनन्त भगवत्सुख से।" अच्छा तो चलो, महापुरुष के पास। उसी से पूछें कि वह अपनावाला सुख कहां? और कैसे मिलेगा? किन्तु चलने के पूर्व यह भी तो सोच लो कि उन महापुरुषों को पहिचानोगे कैसे? छापा, तिलक लगाने, कंठी पहिनने, कपड़ा रँगाने, जटा बढ़ाने, कान फूंकने, संसारी-पुरुषों को धन, पुत्रादि देने का स्वांग रचने, भौतिक सिद्धियों के द्वारा रूपया आदि बनाने, एवं शुष्क पंडिताई झाड़नेमात्र से ही तो कोई पुरुष, महापुरुष नहीं बन जाता। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि महापुरुषों में कपड़े रँगाये हुये अथवा छापा, तिलक, कंठी, माला, वाले होते ही नहीं। मेरा अभिप्राय यह है कि उपरोक्त बनाव दंभी भी बना सकता है। तो अब सोचना यह है कि किन लक्षणों के द्वारा एवं किस प्रकार महापुरुषों का निर्णय होगा? यही तो एक समस्या है। इस समस्या को सुलझाने के लिये हमें सर्वप्रथम शास्त्रों के पास चलना होगा। शास्त्रों के द्वारा ही महापुरुषों का लक्षण ज्ञात होगा, क्योंकि शास्त्र भी महापुरुषों के प्रणीत होने के कारण महापुरुषस्वरूप ही हैं। यद्यपि

महापुरुष की आवश्यकता आगे चल कर पड़ेगी ही, उसके बिना काम नहीं चल सकता, तथापि जब तक महापुरुष नहीं प्राप्त हो जाता, अथवा यों कहिये कि महापुरुषों को प्राप्त करने की साधनायें भी शास्त्रों द्वारा ही तो प्राप्त होंगी, अतएव यही एक रास्ता है कि हम सर्व-प्रथम शास्त्रों द्वारा ही कुछ ज्ञान प्राप्त करें। जैसे एक मरीज को डॉक्टर या डॉक्टर की पुस्तक से ही, एक अशिक्षित बालक को शिक्षित एवं पाठ्यपुस्तक से ही राय लेनी पड़ती है, उसी प्रकार आपको भी उन्हीं वास्तविक महापुरुषों एवं उनके प्रणीतग्रन्थों से ही राय लेनी पड़ेगी। संसार में भी तो आपने गुमराह संसारी लोगों एवं उनकी बनाई हुई पुस्तकों का आधार लिया था, जिसके परिणाम-स्वरूप अनादिकाल से आजतक आपको प्रतिक्षण-वर्धमान वासनारूपा अशान्ति ही प्राप्त हुई।

अब शास्त्रों, वेदों में चले आइये, वहाँ सब कुछ हल हो जायगा। शास्त्र कहते हैं कि तुम जितना बड़ा संसार स्थूलरूप से देखते हो, उतना ही बड़ा नहीं है, उससे अनन्तगुना बड़ा संसार है। तुम कदाचित् शास्त्र की उक्ति में तर्क करो कि हम यह कैसे मान लें? तो हम तुम्हें एक लौकिकउदाहरण से समझाते हैं, देखो! कोलंबस (Colombus) ने जब तक अमेरिका का पता नहीं लगाया था, तुम कहते थे कि दुनियाँ इतनी ही बड़ी है, किन्तु अमेरिका के पता लग जाने पर तुमने अपनी बात रखने के लिये हठपूर्वक दुनियाँ के दो नाम रख दिये, जिसे नईदुनियाँ

एवं पुरानीदुनियाँ कहते हैं। तुम्हारा दुनियाँ-सम्बन्धी निर्णय यहीं ग़लत सिद्ध हो गया। फिर तुम्हारा आधुनिक दुनियाँ-सम्बन्धी निर्णय ही कहाँ तक सत्य होगा? सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् की शक्तियों से विशिष्ट, परोक्षानुभूति युक्त, सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों ने शास्त्रों में लिखा है कि वर्तमान स्थूलजगत से बहुत बड़े बड़े चौदह प्रमुखलोक हैं। उन चौदहों लोकों की समष्टि का नाम ब्रह्माण्ड है। इस प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं। इन समस्त-ब्रह्माण्डों की समष्टि का नाम ही संसार है। किन्तु यह अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डात्मक संसार, है तो संसार ही, चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, संसार तो संसार !!! अतएव, शास्त्रों ही के अनुसार स्वर्गादिक लोक, ब्रह्मादिक लोक एवं अन्य सभी लोक हमारे सुख के लिये मिलकर भी पर्याप्त नहीं, क्योंकि उन समस्त लोकों का सुख क्षणभंगुर एवं सीमित है। हमें तो ऐसा सुख चाहिये. जो कभी समाप्त न हो, एवं असीम हो। तात्पर्य यह कि जिस सुख के पाने पर समस्त-दुःखों का अत्यन्ताभाव भी हो जाय, एवं अनन्तकाल के लिये अनन्त-सुख की प्राप्ति भी हो जाय।

शास्त्र कहते हैं कि ऐसा सुख तो एक ही असीमशक्तिमान् के पास है, जिस शक्ति का कोई नाम, रूप नहीं है। उसके कार्यों, गुणों एवं शक्तियों के अनुसार ही उसके अनन्त नाम, रूप हैं। उसे ही शास्त्रकार, सर्वद्रष्टा, सर्वनियंता, सर्वसाक्षी, सर्वसुहृत,

सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्तिमान् भगवान् कहते हैं। वह निराकार भी है, साकार भी है। निर्गुण भी है, सगुण भी है। वह मन बुद्धि से रहित भी है, एवं मन-बुद्धि के सहित भी है। वह मुक्त भी है, बद्ध भी है। वह निरपेक्ष एवं सापेक्ष भी है। वह सब कुछ भी है, और कुछ भी नहीं है। वह क्या है? इसे वह ही जानता है। किन्तु, तुम यह सुन कर निराश न हो जाना, क्योंकि वह, जिसको जना देता है वह भी उसे जान लेता है। "सोइ जानइ जेहि देहु जनाई" (राम चरित मानस)। साथ ही विशेषता यह भी है कि जो उसको जान लेता है, वह उसी के समान भी हो जाता है। "जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई" (रामचरित मानस)। वह जो कुछ भी चाहता है, बन जाता है। उसके लिये कुछ भी अशक्य नहीं। यदि उसके लिये कुछ अशक्य हो, तब तो वह सर्वसमर्थ "कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ सर्वशक्तिमान् भगवान्" ही नहीं हो सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि वह जो कुछ भी करता है, अथवा बनता है, वह अपनी रुचि या इच्छा से नहीं, वरन् एकमात्र जीवों की कल्याणकामना से ही युक्त होकर। उसके कार्य, जिसे शास्त्रकार लीला कहते हैं, अत्यन्त ही रहस्य एवं नितान्त ही दूरदर्शिता से युक्त होते हैं। अतएव अल्पज्ञ जीव नहीं समझ पाता। लोक में भी अल्पज्ञ, किसी विशेषज्ञ की बात नहीं समझ पाता, समझने के पूर्व उसकी निन्दा करता है, जिसका कारण

अल्पज्ञता एवं देहाभिमान है, किन्तु जब वही व्यक्ति, विशेषज्ञ हो कर समझने लगता है, तब उस विशेषज्ञ की प्रशंसा करता है। अब उस बिशेषज्ञ के कार्यों की निन्दा उससे निम्नकोटि के अल्पज्ञ करने लगते हैं। अल्पज्ञता के कारण परम्परागत यही नाटक, संसार में प्रतिक्षण हुआ करता है, जिसका तुम्हें अनुभव भी है। जब लोक में ही ऐसी बात है कि अल्पससीम, अनल्प-ससीम को नहीं समझ पाता, तब अल्प या अनल्पससीम हो असीम को कैसे समझ सकता है? मैं आपको एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ, जिसमें एक अल्पज्ञ, विशेषज्ञ की बात किस प्रकार नहीं समझ पाता। कल्पना कीजिये, एक कामादि-विषयों से अपरिचित, अष्टवर्षीय भोलेबालक छात्र ने अपने स्कूल के मास्टर से पूछा—"मास्टर साहब! हम अपने पिता जी के लड़के हैं कि माता जी के?" मास्टर साहब ने कहा—"तुम दोनों के ही लड़के हो"। छात्र ने पूछा—"मास्टर साहब! यह कैसे हो सकता है?" मास्टर साहब ने कहा "अरे भाई! ऐसा ही है, आगे चल कर समझ में आ जायगा।" छात्र ने कहा—"समझाइये न मास्टर साहब! हम अभी समझना चाहते हैं। हमारी किताब में लिखा है कि रामू कमला का बेटा है, फिर लिखा है कि रामू रामदास का बेटा है, तथा यह भी लिखा है कि कमला रामदास की स्त्री है। मास्टर साहब! जब कमला, एक रामदास ही की स्त्री है, तब रामू एक ही का बेटा क्यों नहीं है? दोनों का कैसे है? समझाइये न मास्टर साहब!" मास्टर साहब परेशान हैं, वे कहते हैं—"जितना हम बताते हैं, उतना ही

समझो, आगे बकवक न करो। यदि पढ़ना हो तो पढ़ो, नहीं तो घर बैठो। "छात्र, पिता के पास जाकर यही पूछता है। पिताजी भी मास्टर साहब की तरह कह देते हैं कि बेटा! यह आगे चलकर समझ में आ जायगा। फिर वह छात्र, माताजी के पास जाता है, एवं उनसे भी यही उत्तर पाता है।

बड़ी मुश्किल है, छात्र परेशान है। वह अपने सहपाठी (Classfellows) बालकों से राय लेता है, "क्यों लड़को! मेरे इस प्रश्न का उत्तर, मास्टर साहब ने भी नहीं दिया। माता, पिता ने भी नहीं दिया। अतएव मेरी राय में तो इन सब को इसका उत्तर आता ही नहीं है। सहपाठियों ने कहा—"यही बात है।" बस, फिर क्या था! सहपाठियों की सर्वसम्मति से यह विधान पास होगया। छात्रों ने पढ़ना बन्द कर दिया। यही वात तो जीवों के विषय में भी है। जीव, शास्त्रों में लिखित, भगवान् की बुद्धि-अतीत, जिन रहस्यमयी लीलाओं को नहीं समझ पाता, उनके समाधान के लिये अपने ही वर्ग के सांसारिक जीवों से पूछताछ करता है। संसारीजीव, अल्पज्ञ होने के कारण उसी के अनुकूल राय दे देते हैं, तब वह जीव, महापुरुषों के पास जाता है, वहाँ यह उत्तर मिलता है कि तुम अभी अधिकारी नहीं हो, सर्वप्रथम साधना के द्वारा अधिकारी बनो, फिर उपरोक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है। उपरोक्त छात्र को तो माता, पिता पीटपाट कर हठात् स्कूल भेज देते हैं। आगे चल कर उस छात्र का वह प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही हल हो जाता है, किन्तु उस जीव के लिये ऐसा कोई

माता-पिता नहीं है, जो उसे पीट-पाट कर महापुरुषरूपी मास्टर के पास पढ़ने के लिये बाध्य करे। अतएव वह जीव, सांसारिक जीवों के कथनानुसार ही कहने लगता है कि शास्त्र ग़लत, भगवान् ग़लत महापुरुष ग़लत, सब ग़लत, सब ढोंग, सब बनावट है। भगवान् आदि तो बिगड़ी हुई खोपड़ियों की उपज है, इत्यादि बकबक करते हुये वह संसारीजीव, भगवद्विषयकज्ञान छोड़ कर अपने उसी पूर्व खेल-कूद के संसार में लग जाता है। बस, यही तमाशा अनादिकाल से होता चला आ रहा है। अतएव, हमें थोड़ा विचार करना होगा कि जब सांसारिकविषयों में ही निम्न-अवस्था में उच्च-अवस्था की बातों का निर्णय नहीं हो पाता, तब सर्वथा लोकबुद्धि से परे भगवदीयकार्यों के निर्णय ही कैसे हो सकते हैं? मैंने देहात में एक ग्रामीण-मूर्ख से कहते सुना है कि स्वराज्य से क्या लाभ हुआ? जवाहरलाल गद्दी पर बैठे बैठे मौज उड़ा रहे हैं, ये सब मक्कार हैं, अन्यथा भला, छोटीबुद्धि की बात है कि यदि जवाहरलाल चाहते, तो इतनी महँगी क्यों होती? मैंने परिहास में ही पूछा—"जवाहरलाल क्या करें?" उसने कहा "अरे! येहमा कौन बड़ी बाति अहै! एक एक लाख के नोट छाप देंय देश मां खूब रुपैया होय जाय, काहे का ग़रीबी रहै।" ज़रा सोचिये क वह ग्रामीण, कितना मूर्ख है, फिर भी राय कहाँ दे रहा है, जिसको बुद्धिमान्जन भी राजनैतिकक्षेत्र में बुद्धिमान् कहते हैं। बस, यही तो बात है कि मूर्ख भी यह नहीं

सोच पाता कि मैं जिस विषय में 'द' भी नहीं जानता, उस विषय में निर्णय देने का अधिकार ही क्या है? तात्पर्य यह कि भगवान्, बुद्धिअतीत सर्वसमर्थ हैं, एवं जीवों के कल्याणार्थ ही प्रतिक्षण प्रयत्नशील हैं, किंतु फिर भी अल्पज्ञतावश जीव नहीं समझ पाता, उसी मूर्ख की भाँति भगवान् की खिलाफ़त करता है। वास्तव में ऐसा करते हुए भी अंतरात्मा से वह आस्तिक है, किंतु अल्पज्ञता के कारण जीव विवश है। कोई भी जीव यह नहीं चाहता कि हमारा पतन हो, किन्तु इतना अवश्य है कि ऐसा व्यक्ति लौकिकविषयों में भी मूर्ख है, अन्यथा उसे यह समझ लेना चाहिये कि यदि हमारी समझ में ऐसी बुद्धि-अतीत भगवद्विषयक बातें नहीं आतीं, तो इसका अभिप्राय यह नहीं कि सब ग़लत है। सांसारिक विषयों की समस्त बातें भी तो वह नहीं समझता, किन्तु सदा उसे मान लेता है। अतएव यदि आध्यात्मिक, भगवद्विषयक बातें भी समझ में न आवें, तो उसे बुद्धिमत्तापूर्वक अनुभवी-महापुरुषों एवं उनके आप्त-शास्त्रवाक्यों द्वारा मान लेना चाहिये। जो बुद्धिमान् ऐसा करते हैं, अर्थात् बुद्धि-अतीव विषयों को मान लेते हैं, वे निराश न होकर साधना करते हुये उस समय की प्रतीक्षा करते हैं, जब कि भगवत्कृपा से भगवद्-रहस्यों का स्वयमेव समाधान हो जाता है। यदि पूर्व में ही समझने की आशा करें, तब तो ससीम एवं असीम, अल्पज्ञ, एवं सर्वज्ञ अर्थात् हममें ईश्वर में भेद ही न रह जाय। फिर तो हम भी सर्व-

शक्तिमान् भगवान् हैं, ऐसा मानना होगा। किन्तु, ऐसा अनुभव में नहीं आता। अतएव हमें शास्त्रों को मानना ही पड़ेगा। जो बुद्धिमान, अनुभवी शास्त्रकारों की बात मान कर साधना करता है, उसे ही शास्त्रकार आस्तिक कहते हैं। इस प्रकार आस्तिकों के दो भेद हो गये (१) पूर्व आस्तिक (२) परआस्तिक। पूर्व आस्तिक उसे कहते हैं, जो असीमआनंद रूप भगवान् को मानता भी है, एवं प्रतिक्षण प्रयत्नशील भी है, किन्तु यह नहीं जानता कि वह असीमआनंद रूप भगवत्प्राप्ति कैसे होगी? पर आस्तिक उसे कहते हैं कि जो आनन्दरूप भगवत्प्राप्ति भी चाहता है, एवं प्रति-क्षण प्रयत्नशील भी है, किन्तु विशेषता यह है कि महापुरुषों के आधार पर ही शास्त्रों, वेदों की बातों को मान कर साधना करता है। वस्तुतः अभी पूर्व, पर दोनों ही आस्तिक भगवद्विषयक ज्ञान से अनुभवात्मक परिचय नहीं प्राप्त कर सके हैं, किन्तु उपरोक्त अन्तर ही महान् अन्तर है। क्योंकि यदि पूर्वआस्तिक की भाँति शास्त्रों एवं महापुरुषों की बातों पर विश्वास न करते हुये साधना ही न की जायगी, तब सिद्धि की प्राप्ति ही कैसे होगी? अतएव, शास्त्रकारों ने पूर्वआस्तिक को नास्तिक की संज्ञा दी है। किन्तु मेरी राय में संसार की गहरी ठोकरों को खाने पर कभी न कभी सभी पूर्वआस्तिकों का वह स्वर्णदिवस आता ही है, जब कि वह अपनेआप शास्त्रों एवं महापुरुषों की बात स्वीकार कर लेता है भले ही ऐसा होने में एक क्षण अथवा करोड़ों जन्म लगें। यदि

संस्कारों के अनुसार उन पूर्वआस्तिकों को किसी महापुरुष का संग मिल जाता है, तब तो वह महापुरुष के संग के प्रभाव से पर-आस्तिक बन ही जाता है। किन्तु विचारणीय यह है कि शास्त्रानुसार मानव-देह सदा सुलभ नहीं है। यदि इस विशिष्ट-ज्ञानयुक्त मानव-देह में उपरोक्त ज्ञान न उत्पन्न हुआ, तो पता नहीं कब मानव देह मिले? इसके अतिरिक्त, वर्तमान को छोड़ कर भयानक-भविष्य के विषय में कल्पना करना भी महान् भूल है। अतएव, बुद्धिमान् पूर्वआस्तिक को शीघ्रातिशीघ्र परआस्तिक बन जाना चाहिये। अब मैं उपरोक्त विषय को ही दृष्टिकोण में रखते हुये इस अमूल्य मानवदेह का मूल्य समझाऊँगा।

मानव-देह

समस्तविश्व के समस्तजीव, चौरासीलाख योनियों में ही जन्म लेते हैं, जिनमें कुछ जलचर, कुछ थलचर, कुछ खेचर (आकाश में उड़ने वाले) आदि हैं। ये समस्त जीव, स्वेदज, अंडज, उद्भिज, जरायुज चारप्रकार से उत्पन्न होते हैं। इन चौरासीलाख योनियों में देवताओं की योनि भी सम्मिलित हैं, किंतु मनुष्य-योनि को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, देवयोनि को नहीं। कारण यह है कि देव-योनि में केवल भोग ही है, वहाँ क्रियमाण कर्म नहीं होता, अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा उत्थान-सम्बन्धी कर्म नहीं हो सकता, किन्तु मनुष्यदेह द्वारा नरक से लेकर भगवत्प्राप्ति तक सभी कुछ मिल सकता है। जिसकी प्राप्ति की साधना की जायगी, वही प्राप्त होगा। तुलसी के शब्दों में :—

"नर तनु सम नहिं कवनिउ देही*जीव चराचर याचत जेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी*ज्ञान विराग भक्ति सुख देनी ॥"

देवतागण भी इस मनुष्यदेह की कामना करते हैं, इसलिये नहीं कि यह देह विशेषपवित्र या सुन्दर होता है, वरन् इसलिये कि इस देह से हम अपनावाला अनन्तसुख प्राप्त कर सकते हैं, जब कि दिव्यदेह से ऐसा संभव नहीं। इस प्रकार यह मानवदेह देवताओं को भी दुर्लभ है। तुलसी से शब्दों में :—

' बड़े भाग्य मानुष तनु पावा ॐ सुर दुर्लभ सद्-ग्रंथन गावा"

(रामचरित मानस)

आदि शंकराचार्य कहते हैं :—

"मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभं समधिगम्य सुरैरपि वांछितम्

विषयलंपटतामपहाय वै भजत रे मनुजाः कमलापतिम्"

अर्थात् देवताओं से भी अभिलषित, चौरासीलाखयोनियों में भी अतिदुर्लभ, यह मनुष्य देह है। अतएव हे मनुष्यो! इस देव-दुर्लभ मानवदेह को पाकर विषयों में आसक्त मत होवो। भगवान् का भजन करो। अन्य योनियों में ज्ञान की न्यूनता होती है, किंतु मानवदेह में ज्ञान का प्राकट्य विशेषरूप से होता है। अतएव ज्ञान-युक्त होने के कारण यह देह सर्वश्रेष्ठ है यथा :—

"आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्

ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः"

अर्थात् आहार, विहार, निद्रा, भय आदि तो पशु आदि योनियों में भी निवास करता है, मनुष्यों में ज्ञान ही का विशेषप्राचुर्य होता है। ज्ञान से हीन मनुष्य, पशु के समान ही है। यह भी समझ लेना चाहिये कि कर्मबंधनों में बँधा हुआ अल्पज्ञ मनुष्य, अपनी आयु की सीमा भी नहीं जान पाता। अतएव, मनुष्य को तत्क्षण ही सावधान होने की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य यदि एक क्षण का भी उधार करेगा, तो संभव है कि यह सुरदुर्लभ देह अगले क्षण में समाप्त हो जाय!

मनुष्य को यह भी जान लेना चाहिये कि मानवीयज्ञान जितना

लाभदायक है, उतना ही हानिकारक भी है। यदि उसी मनुष्य-ज्ञान का सदुपयोग न किया जाय, तो महान् पाप भी कमाया जा सकता है। कारण यह है कि जितना पाप, ज्ञानयुक्त-मनुष्य कर सकता है, उतना पाप, अन्य ज्ञानहीन-योनियों वाले जीव नहीं कर सकते। अतएव, यदि ज्ञान का सदुपयोग शीघ्रातिशीघ्र न किया जायगा, तो यह निश्चित है कि वही ज्ञान, घोरपतन के नरक में डाल कर महानतम पाप करा डालेगा। सिद्धांत यह है कि कोई भी मनुष्य एक क्षण को भी चुप नहीं बैठ सकता, यदि उसे शुभकर्म नहीं सुझाया जायगा, तो वह निश्चित ही विपरीत-अशुभकर्म करेगा। इस प्रकार मानव-देह का महान् दुरुपयोग हो जायगा।

एक बात यह भी विचारणीय है कि मनुष्य, जितना ही अधिक इन्द्रियों के विषयों में फँसता जाता है, उतना ही अधिक, पश्चात् निकलने में भी कठिनता का सामना करना होता है। क्योंकि, जितनी ही आग बढ़ जाती है, उतनी ही उसके बुझाने के लिये जल की आवश्यकता होती है। अतएव यदि आलस्यवश एक क्षण का भी उधार किया गया, तो मनुष्य के पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि मैं अगले क्षण में जीवित ही रहूँगा। यदि कोई कहे कि मैं जानता हूँ, मेरा जीवन इतने वर्ष का है, तो उसे भी यह समझ लेना चाहिये कि जितनी ही आसक्ति बढ़ जायगी, उतनी ही उसके हटाने के प्रयत्न में कठिनता होगी।

एक बात और भी विचारणीय है, वह यह कि प्रत्येक मनुष्यों के कुसंस्कार, प्रायः समय समय पर सद्विचारों के विपरीत ही

प्रवृत्ति कराने लगते हैं। यदि पहिले से सावधान होकर कुछ साधना नहीं कर ली जायगी, तो कुसंस्कार, हमारे विचारों को अधः पतन की ओर ले जाकर नष्ट कर देंगे।

एक बात यह भी अवश्यंज्ञेय है कि इस वाह्यसंसार के समस्त मनुष्य, संसार की ही ओर विशेषरूप से उन्मुख हैं, जिनका संग, कुसंग बन कर एक क्षण में ही किसी व्यक्ति का पूर्णपतन कर सकता है। यदि शीघ्र ही तैयारी न कर ली जायगी, तो दुर्जनों का कुसंग हमारे अंतरंग, रहे सहे सद्विचारों को भी नष्ट कर देगा। जब सद्विचार ही नष्ट हो जायंगे, तब हमारी प्रवृत्ति ही, सत् कैसे होगी? प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि, सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण के गुणों से अभिभूत है। जिस गुण का भी प्रभुत्व, बुद्धि पर हो जाता है, बुद्धि द्वारा उसी गुण का कार्य भी होने लगता है। साथ ही वाह्य-गुण-विषय को पाकर अंतरंग तीनों ही गुण विशेष-मात्रा मे बढ़ जाया करते हैं। समस्त संसार में निकृष्ट-गुणों का ही वातावरण विशेष प्राप्त होता है। अतएव, यदि साधना में देर की गई, तो हमारे अंतरंग-तीनों ही गुण, बहिरंग सामग्री को पाकर किसी भी क्षण हमारा पतन करा सकते हैं।

एक प्रमुख बात और विचारणीय है, वह यह कि भगवत्प्राप्ति में अधिक समय की भी आवश्यकता होती है। कदाचित् आप कहें, कि गीता के अनुसार "क्षिप्रं भवति धर्मात्मा" :—अर्थात् एकक्षण में ही मनुष्य धर्मात्मा बन जाता है, किंतु यह सिद्धान्त योगभ्रष्ट-उच्चसंस्कारियों के लिये ही है। अन्यान्य सामान्य जीवों के लिये तो

गीता का ही दूसरा सिद्धान्त है :—

"जन्मांतरसहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः"

तात्पर्य यह कि लाखों जन्मों में मनुष्य, भगवत्प्राप्ति करता है, खेल नहीं है, किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं समझना कि अरे! तब तो बड़ा कठिन है, इतने जन्मों तक कौन साधना करे? हमें तो डर लग गया, अब तो भगवत्प्राप्ति की कोई आशा नहीं रही। इस भयानक-भवाटवी में चक्कर लगाते लगाते तो अनंत युग बीत गये। एवं सदा यह अनुभव भी होता रहा कि इस संसार में त्रिकाल में भी सुख का लवलेश नहीं है, तथापि हठात मिथ्यासाधनाओं को करते हुये भी हम किंचित् भी नहीं थके। यदि वास्तविक परमानन्द की प्राप्ति में कुछ सौ, कुछ, लाख, कुछ करोड़ जन्म लग भी जाते हैं, तब भी वह बहुत थोड़ा ही है, क्योंकि सीमित काल ही तो है। इसके अतिरिक्त यह भी तो विचारणीय है कि यदि हम कई जन्म के परिश्रम के भय से साधना न करेंगे, तो चुप भी तो नहीं बैठ सकते। हाँ, हो सकता है कि हम भगवद्विषयक साधना छोड़ दें, किंतु सांसारिक विषयों की साधना तो विवश हो कर करनी ही पड़ेगी। इस प्रकार मिथ्या-क्षेत्र में जिस प्रकार अनादि-काल से मिथ्या-साधनायें करते चले आये हैं, उसी प्रकार अनंतकाल तक करते चले जायंगे। यदि कोई यह कहे कि लाखों जन्मों के बाद हम कर लेंगे, तो यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं हुई, क्योंकि उसकी उधार करने की आदत

सदा ही दृढ़ होती जायगी। अतएव, मनुष्य को तत्क्षण ही सावधान होने की आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि उपरोक्त कई कारणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य को एकक्षण से भी शीघ्र, सावधान होने की आवश्यकता है, अन्यथा यही ज्ञान-युक्त मानव-देह महान् घातक सिद्ध हो जायगा, दुर्भाग्य, जीव को पतन की पराकाष्ठा पर पहुंचा देगा। यह मानवदेह, सत्यज्ञान के नाते तो अद्वितीय लाभकारी है, किंतु ऐसा न होने पर साथ ही अद्वितीय हानिकारक भी है। अतएव, इस अमूल्य मानव-देह का मूल्य समझ कर शीघ्रातिशीघ्र उसका सदुपयोग ही करना चाहिये। जब मानव-देह का अमूल्य मूल्य समझ में आ जाता है, तभी मनुष्य, उसका सदुपयोग कर सकता है, अर्थात् तभी मनुष्य, सांसारिक विषयों से उपरत होकर महापुरुषों की शरण ग्रहण करता है, जिसके परिणाम-स्वरूप उसे वास्तविक तत्त्व-ज्ञान होता है, तथा जिस तत्वज्ञान के परिणाम-स्वरूप साधना होती है, एवं जिस साधना के परिणाम-स्वरूप, अनन्त आनन्दप्राप्ति-रूप सिद्धि प्राप्ति होती है, जिसे भगवत्प्राप्ति भी कहते हैं। मैंने पूर्व में ही कह दिया कि भगवान् के अनंत स्वरूपों में उपासना के दृष्टिकोण से दो ही स्वरूप प्रधान हैं:—(१) निराकार भगवान् (२) साकार भगवान्।

अब विचार यह करना है कि हम लोग किस स्वरूप की प्राप्ति करें? निराकार भगवान् की प्राप्ति, ज्ञानमार्ग के द्वारा एवं साकार भगवान् की प्राप्ति, भक्तिमार्ग के द्वारा होती है। कर्ममार्ग, इन दोनों मार्गों का ही अनुगतमार्ग है।

मन, स्वयं सगुण, साकार विषय में अनादिकाल से ही संसक्त है, इन्द्रियां भी सगुण, साकार विषय ही चाहती हैं, बुद्धि भी इसी सगुण, साकार का ही निर्णय देती आई है। तात्पर्य यह कि बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ सभी सगुण, साकार विषय को स्वभावतः ही चाहती हैं। अतएव हमें सगुण, साकार की प्राप्ति की ही साधना करनी चाहिये, क्योंकि, जब तक मन को ठहराने के लिये सगुण, साकार विषय नहीं मिलेगा, तब तक साधना ही कैसे हो सकती है? निराकार ब्रह्म की तो परिभाषा ही सुनने पर मन, बुद्धि, फ़ेल हो जायँगे, वे कहेंगे—"यह तो निराकार ब्रह्म का विषय कोई महान् शेखचिल्ली का क़िस्सा सा प्रतीत होता है।" बात यह है कि शास्त्र-कार कहते हैं कि निराकारब्रह्म को समझने के लिये साधन-चतुष्टय-संपन्न शुद्धान्तःकरण की आवश्यकता है। अब भला, शुद्धान्तःकरण कहां से लायें? अंतःकरण तो अनादिकाल से अशुद्ध है, तथा प्रतिक्षण अशुद्ध ही होता जा रहा है। कारण यह है कि हम अशुद्ध-क्षेत्र की अशुद्ध-साधना में ही तो आगे बढ़ रहे हैं। अतएव, निराकारब्रह्म की प्राप्तिवाला ज्ञानमार्ग हमारे, अनुकूल नहीं है। इसके अतिरिक्त, जब घर बैठे, कोई चीज़ मन के अनुकूल मिल जाय, तो मन के विपरीत, जङ्गलों में क्यों भटका जाय? साथ ही जब अंतःकरण शुद्ध ही नहीं है, तो शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार उस निराकारब्रह्म की प्राप्ति ही कैसे कर सकेंगे? हम लोग तो निराकारब्रह्म के विषय के सुनने के भी अधिकारी नहीं हैं, ऐसा शास्त्रकारों ने बताया है। इसके अतिरिक्त यह भी तो

विचारणीय है कि जब निराकारब्रह्म को प्राप्त किये हुये महानतम आत्माराम, पूर्णकाम, परमनिष्काम, परमहंस, नित्य जीवन्मुक्त. शंकर, ब्रह्मा, सनकादिक, जनकादिक, व्यासादिक, शुकादिक भी सगुण-साकार भगवान् की भक्ति करते हैं, तब हमें विचार ही क्या करना है ? अवश्य ही सगुण, साकार भगवान् विशेष माधुर्य-युक्त होंगे। यद्यपि दोनों ही ब्रह्म के स्वरूप अभिन्न हैं, फिर भी जिस प्रकार ईख के सम्पूर्ण भाग में मिठास है, किंतु यदि उसमें फल लगता, तो कितना मीठा होता ? चंदन के प्रत्येक भाग में सुगन्धि है, किंतु यदि चन्दन में फूल फूलता, तो कितनी सुगंधि उस फूल में होती ? इसी प्रकार अनिर्वचनीय परमानन्द तो निराकार ब्रह्म में ही है, यदि वह साकार होगा, तो कितना मधुर होगा ? यह एक विशेष विलक्षणता वाली बात है, जो समझाई नहीं जा सकती। साधना के द्वारा समझी जा सकती है। इसका पूर्ण अनुभव उन्हीं लोगों को होगा, जिन्होंने निराकार ब्रह्म के परमानन्द को प्राप्त कर लेने पर भी सगुण, साकार का प्रेम रस पान किया हो। आत्माराम-सनकादिकों का हृदय ही जानता होगा, जो विलक्षणता, सगुण, साकार के प्रेमानन्द में होती है, हम, तुम उसका क्या अनुमान लगावें ? हाँ, विचारणीय यह है कि सगुण, साकार भगवान् अधिक-मधुर होने के साथ ही हमारे मन, बुद्धि आदि के अनुकूल भी है। अतएव हमारे लिये वे ही सगुण, साकार भगवान् प्रिय हैं। हमको उन्हीं की प्राप्ति का उपाय या प्रयत्न करना चाहिये, व्यर्थ के वादविवाद से क्या मिलनाजुलना ? यदि भगवान् के दोनों ही

स्वरूप परस्पर एक न होते, अर्थात् छोटे बड़े आदि ही होते, तब तो कुछ बहस की जाती। जब दोनों एक ही तत्व हैं, तब प्रश्न ही क्या उठ सकता है? अपने अधिकार एवं रुचि के अनुसार ही हमें चलना भी तो है। यदि यह भी सत्य होता कि निराकार-ब्रह्मरस अधिक सरस है, तब भी अंतःकरण शुद्धि के बिना हम लोग उसके अधिकारी न होते।

सगुण, साकार भगवान् के भी अनन्त स्वरूप हैं, किंतु हम तो सब से सरस एवं अनुकूल ही पसन्द करेंगे। अतएव अब यह पता लगाना है कि सब से सरस कोन से सगुण, साकार भगवान् हैं? अर्थात्, भगवान् का कौन सा अवतार-स्वरूप अत्यधिक सरस है? बस, उसी अवतार को अपना इष्टदेव बनाकर हमें चलना होगा, तथा उसी के नाम, गुण, लीलादिकों का अवलम्ब ग्रहण करना होगा, जिससे शीघ्रातिशीघ्र उस अवतार-विशेष में मन उलझ जाय।

अवतार, इसीलिये तो होते हैं कि मनुष्य अपने अनुकूल सगुण-विषय पकर शीघ्र ही अनुरक्त हो जाय. अन्यथा दैत्य संहारादि, लघुकार्यों के लिये उन्हें अवतार लेने की क्या आवश्यकता हो सकती है? भगवान् स्वयं ही अवतार लेकर उन मिथ्या कारण-स्वरूप दैत्यों का संहार भी करते हैं। ये उनकी विचित्र लीलायें महान् से महान् बुद्धिमानों को भी चक्कर मे डाल देती हैं। अतएव यह सावधानी रखनी चाहिये कि उनके सगुण, प्राकृत-मनुष्यों के अनुरूप व्यवहारों को देखकर उनमें तर्क न हो जाय।

अर्थात् अपनी आत्मा पर कृपा करते हुए अपनी चार अंगुल की मायिक खोपड़ी का उपयोग सांसारिक क्षेत्र में ही होने देना चाहिये, अन्यथा सब गुड़ मिट्टी हो जायगा, एवं सब कियाकराया चौपट हो जायगा। तुलसी के शब्दों में :— (रामचरित मानस)

"निरगुन रूप सुलभ अति * सगुन न जाने कोय।
सुगम, अगम नाना चरित * सुनि मुनि मन भ्रम होय॥"

भागवतकार के शब्दों में :—

"कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम्
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह"

अर्थात् इच्छा रहित से कर्म की उत्पत्ति, अजन्मा का जन्म, स्वयं कालात्मा का जरासंध के भय से भाग कर द्वारिका के दुर्ग का आश्रय, अपनी आत्मा में ही रमण करने वाले का सौ करोड़ गोपियों के साथ महारास, आदि विचित्र भगवत्कार्य, महान् से महान् बुद्धिमान् को भी भ्रम में डाल देता है। किन्तु अब तो तुम समझ चुके हो कि भगवत्कार्यों पर लौकिकबुद्धि को राय देने का अधिकार ही नहीं है। फिर गड़बड़ी ही क्यों कर होने लगी। वे सर्वसमर्थ भगवान् कुछ भी करें, हमें तो उनकी लीलाओं में आनन्द लेने से ही तात्पर्य है। अरे भाई! आम खाने से ही काम रखने वाले, बुद्धिमान् कहे जाते हैं। भगवान् क्यों अवतार लेते हैं? यह भी जानने की हमें कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान्, जिस किसी भी कारण से अवतार लेंगे, वह जीव के हित के लिये ही होगा। यह मैंने पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है। कारण यह है कि

भगवान् अकारणकरुण हैं, दूसरा कारण हो ही नहीं सकता। व्यावहारिकरूप से बहाना कुछ भी लिया करें, उससे हमें क्या मतलब ? मेरी राय में भगवान् ने सोचा होगा कि मनुष्यदेहयुक्त-ज्ञान पाकर भी जीव, निर्गुण-निराकार ब्रह्म को नहीं समझ पा रहा है, अतएव, भगवान् से नहीं रहा गया, एवं वे अकारणकरुण भगवान् दैत्य निर्माण, दैत्य संहार आदि का बहाना बना कर सगुण, साकार रूप से अवतीर्ण हुये। इस प्रकार भगवान् जब मनुष्य रूप में आ गये, तथा साथ ही भगवान्; मनुष्य एवं भगवान् दोनों ही कोटि के कार्य करने लगे, तब यह भी स्पष्ट हो गया कि अमुक कार्य मनुष्य नहीं कर सकता, क्योंकि वह अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् है, अतएव वे भगवान् ही हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य के लिये सुभीता भी हो गया कि वह सुगमतापूर्वक मन लगा सके। देखो तो, कितने अकारणकरुण हैं अनंतकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्पर सर्वशक्तिमान् भगवान्! भला, उन्हें क्या पड़ी थी "अपने को, अल्पशक्तिमान् नुष्यों के हाथ बेच कर दास बनने की! पर क्या करें! करुणावरुणालय अपने स्वभाव से विवश हैं। यही तो भगवान् की वास्तविक भगवत्ता है। सृष्टि कर लेना, अथवा जीवों के पाप पुण्य के अनुसार दण्ड दे देना आदि कार्य तो एकमात्र उनकी योगमाया से ही सपन्न होते हैं, पर यह अवतार लेना, तो उनके अकारणकरुण, पतितपावन, दीनबन्धु आदि नामों को ही सार्थक करता है, अन्यथा उन्हें कौन जानता? कि उनमें उपरोक्तगुण भी हैं। बेचारे वेद तो

थक कर स्वयं नेति नेति का नारा लगा रहे हैं।

हाँ, तो अब यह देखना है कि सर्वाधिकमधुरतम मनुष्य-स्वरूप सगुण-साकार अवतार कौनसा है? यद्यपि अवतार तो असंख्य हैं, तथापि प्रमुख चौबीस ही अवतार हैं। उन चौबीस अवतारों में भी प्रमुख दस अवतार हैं, एवं उन दस अवतारों में भी परमप्रमुख राम, कृष्ण दो ही अवतार माने गये हैं क्योंकि, इन्हीं दोनों अवतारों की लीलाओं में सर्वाधिक-माधुर्य है। इन दोनों अवतारों में भी श्रीकृष्णावतार माधुर्य से भी मधुर है। श्रीकृष्णावतार, प्रेमावतार माना गया है। इस अवतार में उच्चतमप्रेम प्रदान-करना ही, एवं प्रेमियों के आधीन रहना ही, प्रधानतया व्यक्त किया गया है, साथ ही भगवत्ता के गुण भी अवतारकाल से ही प्रकट होने लगे थे, जिससे मनुष्य के समझने में भी कोई कठिनता न हो। जीव का अंतिम सरस रस महारास, इसी कृष्णावतार में प्रकट हुआ था। श्रीकृष्णावतार के परम-मधुर होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह भी है कि रामावतार के सभी रामोपासक, इस कृष्णावतार के प्रेममाधुर्य के पान के लिये अवतीर्ण हुये थे। रामावतार में राम-भगवान् ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का कार्य किया था, किंतु कृष्णावतार में अनिर्वचनीय प्रेममाधुर्य का प्राकट्य प्रधानतया किया था। अतएव, आनन्दकन्द-सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र, ही हमारे इष्टदेव होने चाहिये। कारण यह है कि जब सभी रामोपासक, कृष्णोपासक बने थे, तब रामावतार से कृष्णावतार की प्रेमरसमाधुरी में अज्ञात विचित्रविलक्षणता

अवश्य रही होगी, अन्यथा वे रामोपासक, आधुनिकअल्पज्ञ-रामोपासकों की भाँति, इष्ट बदलने के भय से ऐसा न करते।

स्मरण रहे, कृष्णावतार अथवा रामावतार अथवा अन्य नृसिंहादि अवतार अथवा निराकारब्रह्म पृथक् पृथक् भासित होते हुये भी सिद्धान्ततः एक ही हैं। केवल जीवों की सुगमता के दृष्टिकोण से ही निराकार ने साकार बन कर प्रेमरस प्रदान किया। हमारी राय में तो सगुण-साकार-भगवान् के प्रकाश का ही नाम निराकार ब्रह्म है। साकार विविधअवतारों में भी अधिक रस, कृष्णावतार में ही व्यक्त हुआ। अतएव तत्वतः समस्त अवतारों एवं निराकार ब्रह्म को भी एक ही समझना चाहिये। पुरुषोत्तमब्रह्म-श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण हैं, वे ही राम हैं, वे ही नृसिंहादि अनन्त-अवतारस्वरूप हैं, एवं उन्हीं का प्रकाशस्वरूप निराकार ब्रह्म भी है, ऐसा तत्वज्ञान समझ कर ही उपासना करनी चाहिये। अवतार लेने का रहस्य, अवतार लेने का कारण, अवतारों में परस्पर एकता एवं निराकार-साकार ब्रह्म की एकता आदि को मैंने सारांश के प्रकरण के पूर्व ही विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर दिया है, पढ़ लेना।

हाँ, तो भगवान् के समस्त अवतारों में परम मधुरतम अवतार श्रीकृष्ण ही हैं। उन्हीं श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति के भी सारस्वरूप प्रेम एवं प्रेम की भी सारभूता महाभावरूपा शक्ति को रसिकों ने राधातत्व बताया है। राधिका, श्रीकृष्ण की आत्मा हैं। समस्त शक्तियों के आराध्य ब्रह्मश्रीकृष्ण भी राधिका की आराधना करते हैं, तथा महाभाव स्वरूपा अद्वितीया राधिका भी श्रीकृष्ण की

आराधना करती हैं। ये दोनों ही परस्पर एक तत्व हैं। मैंने राधा-तत्व के प्रकरण में विस्तार-पूर्वक यह सब स्पष्ट कर दिया है। अपरंच ब्रह्मवैवर्त पुराण कहता है यथा :—

"राधा भजति श्रीकृष्णं स च तां च परस्परम्"

अब यह विचारणीय है कि शास्त्रों के द्वारा संसार का स्वरूपज्ञान तो हो गया। यत्किंचित् भगवत्-स्वरूप का भी परिचय मिल गया, किंतु महापुरुषपरिचय एवं उनकी श्रद्धायुक्त शरणागति के बिना भगवद्विषयक साधना का श्रीगणेश ही नहीं हो सकता, ऐसा शास्त्रकारों का सिद्धान्त है। अर्थात्, बिना किसी महापुरुष की शरणागति के, भगवत्प्राप्ति हो ही नहीं सकती। महापुरुषों को पहिचानना, एक बहुत जटिल समस्या है। शास्त्रों को पढ़ लेना सुगम है, किंतु महापुरुष को पहिचानना अत्यन्त ही टेढ़ी खीर है। असंभव नहीं है, मनुष्य सब कुछ कर सकता है। मनुष्यों ही ने तो सब कुछ किया है, हम निराश न हों। प्रयत्न करना हम लोगों का कार्य है, सफलता प्रदान करना भगवान् का। यद्यपि महापुरुष भी भगवान् का ही पर्यायवाची शब्द है, अर्थात् भगवान् की संपूर्णशक्तियों से युक्तशक्ति का नाम ही महापुरुष है। महापुरुष वस्तुतः वही है जिसके हृदय में प्रतिक्षण अविच्छिन्न रूप से भगवान् का निवास रहता है। ऐसा भगवत्प्राप्ति के पश्चात् ही होता है। हाँ, महापुरुष अनंत होता है, एवं उसका देह प्राकृत होता है। अतएव महापुरुषों के पहिचानने में विशेष कठिनता है।

महापुरुष

महापुरुषों को तो पूर्णरूप से पहिचानना सर्वथा असंभव है, किन्तु यदि श्रद्धालु-विरक्तमनुष्य पहिचानना चाहे, तो आंशिक रूप से पहिचान सकता है। महापुरुष के विषय में समझा जा सकता है, किन्तु समझाया नहीं जा सकता। अर्थात् यदि अश्रद्धालु मनुष्य को श्रद्धालुमनुष्य समझाना चाहे कि अमुक व्यक्ति महा-पुरुष है, क्योंकि उस व्यक्ति में अमुक अमुक लक्षण मिलते हैं, तो यह संभव नहीं कि अश्रद्धालु मान ले। अतएव श्रद्धालु-विरक्त मनुष्य का हृदय ही महापुरुषों को समझ सकता है, अन्य नहीं।

महापुरुषों को पहिचानने में एक बात का और ध्यान रखना चाहिये कि किसी से भी सुनकर किसी को महापुरुष न मान ले। यद्यपि किसी दंभी को भी दूर से महापुरुष मान लेने में कोई हानि नहीं, वरन् लाभ ही है, तथापि यदि यही नियम बना रहेगा, तो वास्तविक महापुरुष को भी सुनकर ही दंभी मान बैठेगा, जो कि महान् नामापराधस्वरूप हो जायगा। बात यह है कि सुनी हुई बात के आधारभूत वे ही व्यक्ति तो होते हैं, जिनसे हमने सुना है कि अमुक व्यक्ति महापुरुष है। यदि वे ही आधारभूतव्यक्ति, कल यह कहने लगें कि नहीं! नहीं!! मेरा निर्णय गलत था, अमुक व्यक्ति महापुरुष नहीं है, पक्का गुंडा है, तब उपरोक्त श्रवण-जन्य बोध भी परिवर्तित हो जायगा।

संसार के सभी जीव अल्पज्ञ हैं। साथ ही देहाभिमान से युक्त भी है, एवं सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, की परिवर्तनशील बुद्धि से भी युक्त हैं। अतएव उनका निर्णय, दंभी या महापुरुष किसी के भी प्रति निश्चित नहीं रहता। वे जब सतोगुण से युक्त-बुद्धिवाले होते हैं, तब सतोगुणी निर्णय देते हैं। जब रजोगुण से युक्त-बुद्धि वाले होते हैं; तब रजोगुणी निर्णय देते हैं। इसी प्रकार तमोगुण-युक्त-बुद्धि से तमोगुणी निर्णय देते हैं। जब वे दिन में सैकड़ों बार तीनों ही गुणों के आधीन हुआ करते हैं, तब उनका निर्णय ही कैसे स्थायी रह सकता है ? फिर साथ ही यह भी विशेषता है कि तमोगुण परमप्रधान, एवं उससे कम रजोगुण प्रधान, एवं सतोगुण तो कभी कभी ही प्रकट होता है। तब भला, वे कैसे सदा महापुरुष को महापुरुष मानने लगे !!!

मेरी तो व्यक्तिगत राय यह है कि जब गुणातीत-महापुरुष को, नियमानुसार गुणातीत-व्यक्ति ही समझ सकते हैं, तब यह महान् आश्चर्य है कि गुणासक्त-जीव, किसी को महापुरुष मानले। किंतु ऐसा होता अवश्य है, अन्यथा कोई भी जीव भगवत्प्राप्ति ही कैसे करे ? उसमें कारण यह समझना चाहिये कि महान् सुकृतों एवं महापुरुषों की कृपा से ही ऐसा हुआ है। हां, कभी कभी आर्त्त आदि जीव भी, अनुमानादि प्रमाण के द्वारा आंशिक रूप से महापुरुष को, महापुरुष मानता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रायः ऐसा होता है कि हम अपनी स्वार्थ-सिद्धि के अनुसार ही किसी को महापुरुष मान लेते हैं। स्वार्थ-सिद्धि से मेरा अभिप्राय, सांसारिक मिथ्या स्वार्थ

सिद्धि से है। अर्थात् उदाहरणार्थः—किसी महापुरुष के पास कोई स्वार्थयुक्त व्यक्ति गया, अथवा महापुरुष ही किसी स्वार्थीव्यक्ति के पास आया, एवं उस स्वार्थी व्यक्ति की कोई सांसारिककामना पूर्ण हो गई, बस, बिना सोचे विचारे ही उस स्वार्थी ने उस व्यक्ति को महापुरुष मान लिया, तथा सर्वत्र घोषणा करने लगा कि अमुक व्यक्ति बहुत बड़ा महापुरुष है, किन्तु ज्यों ही स्वार्थी के स्वार्थ में अभाव हुआ, वह तत्क्षण ही चिल्लानेलगा—"अरे! धोखाहै!! धोखा है!!! वह तो महान् मक्कार पुरुष है।" भला बताइये, इस प्रकार के व्यक्ति के द्वारा सुन कर मान लेने में तो, कभी हम दंभी को महापुरुष, कभी महापुरुष को दंभी समझा करेंगे। सदा उस अविवेकी व्यक्ति के अनुसार ही अपना निर्णय बदला करेंगे। यदि हम संसार का स्वरूप भलीभाँति समझ लें, तब यह सोच सकते हैं कि संसारी जीव का एकनिर्णय रह ही नहीं सकता। दूसरे यह कि महापुरुष तो, तीनों गुणोंवाले समस्त संसारीजीवों से अतीत, दिव्यभाव वाला होता है, उसके अनुकूलभाव रखने वाले तो इनेगिने ही जीव होते हैं। हमारी राय में तो जिस प्रकार हीरे के परखने वाले इनेगिने ही जौहरी होते हैं, उसी प्रकार महापुरुष को पहिचानने वाले भी इनेगिने ही होते हैं।

संसार के जीव, परिवर्तनशील-बुद्धि वाले अपने मिथ्याभिमान में चूर! भला किसी व्यक्ति को महापुरुष क्योंकर मानने लगे? यदि मान भी गये, तो कब तक? हम यह भूल जाते हैं कि जब संसार के जीवों के साथ ही संसारीजीव, लाखों मक्कारी करता है, तब स्व-

भावत: ही संसार से अतीत-महापुरुषों को वह क्यों कर छोड़ने लगा? मैंने तो अपने चोदहवर्ष के भारतीयभ्रमण में सैकड़ों ऐसे उदाहरण देखे हैं। उदाहरणार्थ:—एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि अमुक व्यक्ति महापुरुष है, तथा अमुक व्यक्ति महापुरुष नहीं है। मैंने उस व्यक्ति से पूछा—"क्यों जी? तुमने क्या उन दोनों को ही देखा है? एवं क्या उनका संग कुछ दिन तक किया है?" उसने कहा-"नहीं, मेरा मित्र कह रहा था।" मैंने पूछा—"क्या तुम्हारा मित्र देहाभिमानरहित, एक भी ग़लती न करने वाला महापुरुष है क्या?" उसने कहा-"नहीं, ऐसा तो नहीं है।" मैंने कहा—"तब तो फिर उसकी बात ग़लत भी हो सकती है। संभव है, तुम्हारी तरह उसने भी कहीं से सुनकर ही कह दिया हो, अथवा किसी कारणवश स्वयं बातें बना रहा हो।" इतिहास साक्षी है कि एक महापुरुष से एक स्त्री ने कहा कि हम, आपसे पति का व्यवहार चाहती हैं, महापुरुष ने कहा—"मैं ऐसा नहीं कर सकता।" स्त्री क्रुद्ध होकर चिल्ला पड़ी—"दौड़ो! दौड़ो!! बचाओ! बचाओ!! यह बदमाश मुझसे बलात्कार करना चाहता है।" लोग दौड़ आये, एवं लगे महापुरुष को पीटने। ज़रा सोचिये, महापुरुषों को छोड़कर उस समय ऐसा बुद्धिमान् कौन होगा? जो यह मानले कि महापुरुष का बयान सत्य है, एवं स्त्री का बयान असत्य है। क्या ही विचित्र बात है कि बेचारे महापुरुष, जो जीवों के कल्याण के लिये ही शरीर धारण करते हैं, उनकी दुर्गति, जीव इस प्रकार करते हैं। फिर, जीवों के लिये यह क्या आश्चर्य की बात है कि वे देहाभिमान के कारण महापुरुषों की खिलाफ़त करें।

मैंने अनुभव किया है कि यदि किसी गृहस्थी के बेटे, बेटी, स्त्री, पति, आदि कोई भी, किसी महापुरुष के द्वारा ज्यों ही किंचित् साधना में आगे बढ़ने लगे, अर्थात् भगवत्कृपा से भगवान् में थोड़ा-बहुत मन का लगाव होने लगा, त्यों ही उन्हीं के हितैषी घरवाले उनकी टाँग खींचने लगे। साथ में महापुरुष को भी पीस दिया कि अमुक महापुरुष तो हमारी गृहस्थी खराब करना चाहता है, जब से वह आया है, मेरा पति मुझसे प्यार नहीं करता, मेरी बीबी मेरी परवाह नहीं करती, मेरे बच्चे मुझसे उदासीन हो गये, इत्यादि। मैंने यह भी देखा है कि जो अपनेआप को महापुरुष के शरणागत होने का दावा करते हैं, अर्थात् महापुरुष-शरणागति की अवस्था में वे चिल्ला चिल्ला कर जगह जगह गाया करते हैं कि मेरा गुरु, विश्व में सब से बड़ा अवतारी महापुरुष है, यदि कोई परिहास में भी यह कह देता है कि देखो भाई! समझ बूझ कर चलना। तब वे बड़े जोरों से उत्तर देते हैं कि मैं गधा नहीं हूँ, ठोंक बजा कर ही सौदा करता हूँ, तथा सौदा भी एक ही बार करता हूँ। मुझे सब कुछ मिल गया है। उसके ऐसा कहने पर एक दुष्परिणाम तो यह होता है कि श्रोतागण, महापुरुष पर अकारण ही आक्षेप कर बैठते हैं कि अमुक महापुरुष अपनेआप को अवतारी कहता है, यहाँ तक कि अपनेआप को भगवान् कहता है। कोई भी बुद्धिमान्, साधारण-बुद्धि के द्वारा भी यह नहीं कहता कि जरा जाकर, संग रह कर, हम भी तो देखें, क्या यह सब सत्य है? लोग तो, दूर से ही ऊटपटाँग निर्णय दे देते हैं, उन्हें अवकाश ही कहां है संसारी कार्यों से?

यह भी देखा गया है कि यदि महापुरुष ने शिष्यभाव से भी, अपने शरणागत को किसी विशेषत्रुटि या कुसंग करने पर डाटा। यथाः-"देखो, तुम उस स्त्री के पास मत बैठा करो। खबरदार! तुमने घर इसलिये नहीं छोड़ा है। क्या तुम्हें स्त्री, धन, या प्रतिष्ठा आदि चाहिये? तुम, लोगों से पैर पुजवाने लगे हो" बस, इस डाट को सुनते ही वह बनावटीशिष्य अपने गुरु-महापुरुष की ही निंदा करने लगा। भला सोचिये, यदि वह शरणागत होता, एवं उस महापुरुष को वास्तव में ही अपना गुरु समझा होता, तो अपनी ही त्रुटियों को, गुरु के द्वारा सुनकर बलिबलि जाता। किंतु, वह तो पहिले से ही बनावटी शिष्य था, और अब तो अपना अपमान समझ कर और भी मक्कार हो गया। उसका अब यह व्यवसाय सा हो गया कि प्रत्येक से अपने गुरु की निन्दा करता है। यदि उसे अपने गुरु से अश्रद्धा भी हो गई है, तो गुरु से तटस्थ हो जाना चाहिये। यदि शिष्य, महापुरुष नहीं है, तब तो संभव है, उसका निर्णय भी सही न हो। किंतु संसारी मनुष्य भी तो बड़े बड़े बुद्धिमान् हैं, जो उसकी बात पर पूर्णविश्वास करते हुये यह भी नहीं सोचते कि जरा हम भी चल कर तो देखें। लौकिक कहावत के अनुसारः—"तुम्हारा कान कौआ ले गया" यह सुनते ही अपने कान को न देख कर, कौए के पीछे ही दौड़ने लगते हैं। श्रोतागण, ऐसे अल्पज्ञ-परनिन्दक व्यक्ति की बात सुन कर इतना गहरा विश्वास कर लेते हैं, जितना कि मूर्तिपूजा आदि करते हुये भी, भगवद्गुणविशिष्ट भगवान् के

अस्तित्व में भी विश्वास नहीं करते। क्या बढ़िया बुद्धिमत्ता का परिचय है!

मुझ से एक महोदय ने अपने गुरु की निन्दा की। मैंने उनसे कहा कि अच्छा यह बताओ कि तुम सर्वज्ञ हो? उन्होंने कहा "नहीं।" मैंने कहा—"अच्छा यह बताओ कि तुम देहाभिमानो हो?" उन्होंने कहा "हाँ", मैंने कहा—"अच्छा यह बताओ कि तुम झूठ बोल सकते हो"? उन्होंने कहा—"हां, परंतु मैं यहाँ झूठ नहीं बोल रहा हूँ।" मैंने कहा—"जब तुम अल्पज्ञ हो, देहाभिमानी हो, ग़लती कर सकते हो, तब भला, यही कैसे मान लिया जाय कि तुम सत्य बोल रहे हो? यदि वेश्या किसी से कहे कि यद्यपि मैं अनेकानेक पुरुषों से मिलती हूँ, परन्तु प्यार तुम्हीं से करती हूँ, तो भला यह बात कौन बुद्धिमान् मान लेगा?" मैंने फिर, उन गुरुनिन्दक महोदय से पूछा—"क्यों जी! तुमने मुझसे यह सब निन्दा की बात क्यों कही?" उन्होंने कहा—"ताकि लोक-कल्याण हो"। मैंने कहा—"क्या भगवान् एवं महापुरुषों ने लोककल्याण का कार्यभार तुम्हीं को सौंप दिया है? तथा क्या परनिन्दा से ही लोक-कल्याण होता है? तुम सर्वप्रथम अपना ही कल्याण भला कर लो।" उन्होंने कहा—"नहीं! नहीं!! यह बात नहीं है, मैंने तो वैसे ही अकस्मात् कह दिया कि ऐसे ऐसे लोग, महात्मा बनते हैं।" मैंने कहा—"अच्छा यह बताओ कि उस दंभी की निन्दा से तुम्हारा व्यक्तिगत क्या लाभ होता है? तथा तुम और भी लोगों के मस्तिष्क में जो परनिन्दा का दुर्भाव भरते हो, उससे उन लोगों

का क्या लाभ होता है ? क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि बार बार सदोषविषय के चिन्तन करने से उसी में मन-बुद्धि का लगाव हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप, उससे सदोषकार्य होने लगता है।" यह तो तुलसी के शब्दों में वही बात हुई:— "परनिन्दा सम अघ न गिरीसा" तथा "आपु जाहिं अरु आन घालहिं" भावार्थ यह कि महापुरुषों ने परनिन्दा को ही सबसे महान् पाप बतलाया है, फिर कमाल यह है कि हम भी उसे करें, तथा औरों से भी करायें। अर्थात् वे लोग परनिन्दा का ही श्रवण, मनन, कीर्तन आदि करते हुए क्या ही सुन्दर आराधना करते हैं!! मैंने कहा—"अच्छा, यह बताओ कि तुम मन, बुद्धि का लगाव भगवद्विषय में करते हो, अथवा परदोष-दर्शनात्मक विषय में ? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हारी मन, बुद्धि शत्रुता से युक्त हो गई है। अच्छा, यह बताओ कि जब तुम अपने गुरु को महापुरुष मानते थे, तब तुम्हारा कोई भगवद्विषयक लाभ हुआ था ? उन्होंने कहा—"हाँ हुआ तो था।" मैंने कहा—"अब यह बताओ, देखो! सच-सच बताना, जब से तुमने यह निश्चय किया है कि वह महापुरुष नहीं है, तथा जब से उसकी निन्दा का व्यवसाय कर रहा है, तब से तुम्हारा मन, भगवद्विषय में उतना ही लग रहा है क्या ?" उन्होंने कहा—"लग तो नहीं रहा है, हम तो परेशान हैं, क्रोध भर गया है, दिमाग फटा जा रहा है, ऐसा प्रतीत होता है कि हम थोड़े ही दिनों में नास्तिक बन जायेंगे।" मैंने कहा—"अब जरा सोचो कि इस झगड़े में पड़ने से तुम्हारा ही कल्याण क्या संभव है ? तुम

लोक-कल्याण का ओट लेकर परिणाम में पाप के सिवा और क्या कमा सकोगे ? अरे भाई ! यदि वह महापुरुष नहीं है, हम यह भी मान लें, तो तुम उसका चिन्तन छोड़ो, दूसरा महापुरुष ढूढ़ो, एवं साधना करो। संसार तो संसार है। इस संसार में अनंतानंत महापुरुष आये, संसारियों के जूते खाये, उनके लिये प्राण तक देने को तैयार हुए, पर उन संसारियों में इने गिने ही महापुरुष-कृपा-पात्र बन पाये। फिर अल्पज्ञ, असमर्थ, मायिक, क्रोधी, परनिंदक, पथभ्रष्ट तुम ही क्या कर लोगे ? अब कृपा करके इस लोक-कल्याण के कार्यभार को महापुरुषों एवं भगवान् पर ही छोड़ दो, अन्यथा महापुरुष एवं भगवान् व्यर्थ ही सिद्ध होंगे, साथ ही तुम ऐसे गर्त म जा गिरोगे, जहाँ से उठना असंभव हो जायगा।" अच्छा, एक बात तो बताओ—"यदि कहीं वह महापुरुष हुआ, तो तुम्हारी क्या गति होगी ? आखिर तुम यह दावा तो नहीं कर सकते कि भगवान् एवं महापुरुषों को नापने का मेरे पास पक्का पैमाना है।" महापुरुष तो भगवान् के संकल्प से कार्य करता है। भला तुम उसे किस प्रकार समझ पाओगे ? यदि तुम सरीखे अल्पज्ञ ही भगवदीय संकल्पों से युक्त-कार्यों को समझ लें, तब तो देहाभिमानी जीव, एवं बुद्धिपर भगवान् में भेद ही न रह जायगा। जब लोक में ही अल्पज्ञ, विशेषज्ञ की बातों को अथवा कार्यों को विना उस अवस्था पर पहुँचे, नहीं समझ पाता, तब फिर अल्पज्ञ, अलौकिकविषय को समझने का दावा भला किस प्रकार कर सकता है ? अरे भाई ! तुम इस झगड़े में न पड़ो।

देखो ! जब अँधेरे में पड़ी हुई रस्सी, साँप का भ्रम पैदा कर देती है, अर्थात् मनुष्य यह निश्चय नहीं कर पाता है कि यह साँप है, अथवा रस्सी है, तब उसे विशेष बुद्धिमत्ता के साथ यह निर्णय करना होता है कि इन दोनों ही संशयात्मक विषयों में उसी पक्ष को अपनाना चाहिये, जिसमें हमारी कोई हानि न हो। वह सोचता है कि अँधेरे में पड़ी हुई यदि यह टेढ़ीमेढ़ी वस्तु, रस्सी हुई, तब उसके पकड़ने में कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि वह साँप हुआ, और मैंने पकड़ लिया, तब तो अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ेगा। अतएव, सर्प एवं रस्सी दोनों ही पक्षों में संशय होते हुए भी बुद्धिमान् व्यक्ति, यही निर्णय करता है कि यह सर्प ही है। ठीक इसी प्रकार यदि महापुरुष के विषय में भी हमें संशय हो, तो सर्वज्ञत्वादि शक्ति के विना हम, चट यह न कह दें कि वह महापुरुष नहीं है। अन्यथा, यदि वह कहीं महापुरुष ही हुआ ! तो उसकी निन्दारूप-नामापराध करते हुये करोड़ों साधनाओं से भी भगवत्कृपा-पात्र नहीं बन सकेंगे। देखो भाई ? निन्दनीय की भी निन्दा करना हानिकारक है। निन्दनीय से भी उदासीन ही होना चाहिये। शत्रुता या निंदा करना, किसी भी प्रकार भगवत्प्राप्ति की साधना में सहायक न होगा। फिर, सारा संसार ही तो निन्दनीय है, तुम कहां तक निंदा करोगे ? यह तो सोचो कि भगवत्प्राप्ति के पूर्व प्रत्येक जीव, एवं तुम भी निन्दनीय हो। "नकटे को, नकटा, नकटा, कहे" यह कितने आश्चर्य की बात है!! काश! कि तुम अपनी ही निन्दा करते, तथा सर्वत्र सद्भाव रखते,

जिसके परिणाम-स्वरूप तुम्हारा कल्याण हो जाता। अरे महाशय जी! महापुरुष तक भी अपनेआपको :—"मो सम कौन कुटिल खल कामी" कहते हैं। तुम तो वास्तव में ही कुटिल, खल, कामी, हो। तुम्हें यह मान लेने में क्या आपत्ति है? यदि तुम ऐसा मान लो, तो तुम्हारी बुद्धि में समस्तसंसार ही अच्छा दिखाई पड़ने लगे। सत्य सिद्धान्त तो यह है कि जो स्वयं निन्दनीय होता है वही दूसरों की निन्दा करता है। परनिन्दा करना ही स्वयं के निन्दनीय होने का पक्का प्रमाण है। देखो! महापुरुष तो कहते हैं :—

"तुलसी जाके वदन से * धोखेहु निकसत राम।
वाके पग की पगतरी * मोरे तन को चाम॥ (तुलसीदास)

अब बताओ, तुलसीदासआदिसरीखे महापुरुष तो धोखे में भी रामनाम लेनेवाले के प्रति इतना उच्चभाव रखते हैं, किन्तु तुम अपने ही गुरुमहाराज का, जो करोड़ों जीवों से भगवन्नाम लिवाते हैं, तथा स्वयं लेते हैं, उन्हीं की निन्दा करते हो। बलिहारी है तुम्हारी बुद्धि पर!!! तुम समझते हो कि हमारी बात मान कर सब लोग, महापुरुष के ख़िलाफ़ हो जायँगे। भला, यह कितनी नासमझी की बात है। अरे! मायाबद्धजीव तो अनादिकाल से ही भगवान् एवं महापुरुषों के विपरीत, निर्णय देता चला आ रहा है, उसे तुम्हारे सहयोग की क्या आवश्यकता है?

अतएव किसी से सुनकर, फिर वह भी संसारी जीव से, कभी भी महापुरुषों के प्रति ऐसा विपरीतनिर्णय न कर लेना चाहिये। स्वयं देखभाल कर ही निर्णय देना चाहिये। जब स्वयं देखने

भालने पर भी मनुष्य की मायिकबुद्धि पूर्णतया समर्थ नहीं है. तब सुनकर ही कुछ निर्णय दे देना, तो लौकिकमूर्खता से भी महान् मूर्खता है। लोक में भी लोग, अनुभव करते हैं कि अमुक व्यक्ति, अमुक व्यक्ति की कल निन्दा कर रहा था। आज प्रशंसा कर रहा है। अपनी बीबी एवं पति में जब ऐसा नाटक प्रतिदिन कई बार हुआ करता है, तब अन्य की बात ही क्या है? यह कौन सी नई बात है। अतएव, श्रद्धायुक्त होकर ही, तथा स्वयं देखभाल कर ही, शास्त्रों के अनुसार ही, कुछ अंश में महापुरुष का निर्णय हो सकता है। बस, यही तो एक ऐसी जटिल समस्या है, जिसे हम अनादिकाल से आजतक नहीं सुलझा पाये। अनन्तबार शास्त्रों का अध्ययन किया, अनन्तबार उपदेश सुने, अनन्तबार महापुरुषों से मिले, एवं अनन्तबार भगवान् तक से भी मिले, किन्तु सदा ही अपनी मायिकबुद्धि एवं लोक की सुनी हुई अफ़वाहों में पड़कर अलभ्य-महापुरुषों के लाभ से वंचित रहे। अन्यथा, यह कदापि संभव नहीं कि वास्तविक महापुरुषों के मिलन एवं उनकी शरणागति के पश्चात् भी जीव, इस प्रकार, कूकर, शूकर, कीट, पतंगादि योनियों में अनाथ की भाँति भटके।

कुछलोग, वाह्य आडम्बर को देखकर, जैसे कि अमुक व्यक्ति मौनी है, अमुक व्यक्ति कपड़े नहीं पहिनता है, अमुक व्यक्ति पैसे नहीं छूता है, अमुक व्यक्ति दूध पीता है, अमुक व्यक्ति घोरजंगल में रहता है, अमुक व्यक्ति जटा रखाये है, अमुक व्यक्ति कपड़ा रंगवाये है, अमुक व्यक्ति शास्त्रों की बात सुनाता है, अतएव महापुरुष है। ऐसा निर्णय

कर लेते हैं। यह उनकी महान् भूल है। हाँ, जहाँ तक भगवल्लीला-श्रवणादि का सम्बन्ध है, कोई हानि नहीं। किंतु सिद्धान्त सुनना, अथवा उसे महापुरुष मान कर शरणागत होना, महान घातक है।

कुछलोग अखबारी प्रोपेगेंडा (Propaganda) अर्थात् अमुक महात्मा का बड़ा नाम है, उसे बहुत से लोग जानते हैं, अतएव वह महापुरुष है, ऐसा समझते हैं। वे भी बड़ी भूल करते हैं, क्योंकि वास्तविक महापुरुष तो प्रतिष्ठादिप्रपंचों से दूर रहता है।

कुछलोग भौतिकसिद्धियों आदि के द्वारा, अर्थात् अमुक महापुरुष कमंडल से दाख, बादाम निकाल देता है, रूपया बना देता है, अतएव वह सिद्ध महापुरुष है, ऐसा मान लेते हैं। वे भी महान् भूल करते हैं, क्योंकि उपरोक्तकार्य तामसोव्यक्ति ही लोक-प्रतिष्ठादि के निमित्त करता है, जोकि महापुरुषों के सिद्धान्त से त्याज्य है। कुछलोग गुरुपरंपरा से अर्थात् अमुक महापुरुष, हमारे पिता का गुरु था, अतएव उसकी गद्दी पर बैठने वाला व्यक्ति, हमारा गुरु होगा, ऐसा करते हुए उसे महापुरुष मान लेते हैं। यह भी बड़ी भूल है, क्योंकि परम्परा में यह आवश्यक नहीं है कि सभी उत्तराधिकारी महापुरुष ही हों।

कुछलोग सांसारिकपदार्थ धन, प्रतिष्ठादि देने वालों को महापुरुष समझ लेते हैं। यह भी महानतम भूल है, क्योंकि महा-पुरुष, सांसारिकपदार्थ, नहीं दिया करता। वह जानता है कि सांसारिक पदार्थ, जीव को और भी अधिक उन्मत्त बना देता है। ऐसे ही जीव, पर्याप्त उन्मत्त है। महापुरुष तो अलौकिक-दिव्य-

अनिवर्चनीय भगवद्विषय ही प्रदान किया करता है।

कुछलोग महापुरुष के ही बताने पर, कि मैंने अमुक पहाड़ पर इतनेवर्ष तक तप किया था, एवं वहाँ मुझे भगवत्प्राप्ति हुई थी, मेरी आयु दो सौ वर्ष की है, मैंने कई बार कायाकल्प कर ली है, महापुरुष मान लेते हैं। किंतु यह भी अत्यन्त ही नासमझी की बात है, क्योंकि महापुरुष, अपनेआप को जहाँ तक होता है, छिपाता ही है। वह स्वयं तो परमअंतरंगअधिकारी को ही, अपने महापुरुषत्व का अनुभव कराता है। वह, यह कह ही नहीं सकता कि मैं महापुरुष हूँ। वह तो कहता है:—"हरि हौं सब पतितन को राव" अपने आप को महापुरुष कहने वाले तो, भोलेभाले लोगों को ठगने वाले ही होते हैं। अतएव उनके धोखे में न पड़ना चाहिये।

सारांश यह कि मनुष्य स्वार्थी एवं दुःखी है। साथ ही अल्पज्ञ भी है, अतएव वह अपनी रुचि एवं बुद्धि तथा सिद्धांत के अनुसार ही किसी को, महापुरुष मान लेता है, किन्तु वस्तुतः यह सब भूल ही है।

बुद्धिमान् व्यक्ति को अत्यन्त सावधानी के साथ प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाणों, तथा शास्त्रों के लक्षणों, एवं श्रद्धादिसम्पत्तियों के द्वारा, चिरकाल तक संग करके ही, महापुरुष का निर्णय करना चाहिये। स्मरण रहे, किसी भी महापुरुष का निर्णय सहसा नहीं हो सकता। महापुरुष के साथ रह कर जिज्ञासुभाव से यह अनुमान लगाते रहना चाहिये कि उस महापुरुष का प्रतिक्षण का संकल्प एवं संकेत किस विषय में रहता है? इसके अतिरिक्त उसके

अन्तरङ्ग प्रेमप्रकटसात्विकभावों द्वारा भी पता लगाना चाहिये। क्योंकि भगवान् के नाम-गुण-लीला आदि के श्रवण-कीर्तनादि से वह प्रेम, बाहर छलक पड़ता है।

महापुरुष के बहिरङ्ग व्यवहारों पर विशेष विचार न करना चाहिये, क्योंकि महापुरुष विविधप्रकार से विश्व में रहते हैं। कोई ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष आदि बनकर राज्यशासन में, कोई रामकालीन अयोध्याबासी एवं कृष्णकालीन ब्रजवासीरूप बनकर गृहस्थी में, कोई तुलसी, सूर, मीरादि बन कर अथवा शंकराचार्यादि बन कर विरक्तरूप सन्यास में रहता है, कोई अन्य विविध वेषों एवं स्वरूपों में रहता है। महापुरुषों के कार्य भी विविधप्रकार के होते हैं। उनके कथन एवं विचार भी भिन्न भिन्न से प्रतीत होते हैं। एक कहता है—"प्राणायाम अनिवार्य है।" दूसरा आदिशंकराचार्य बन कर कहता है—"अज्ञानां घ्राणपीडनम्" अर्थात् नाक दबाना, मूर्खों का काम है। इसीप्रकार एक कहता है— "ज्ञान के विना मुक्ति हो ही नहीं सकती।" दूसरा तुलसीदास बन कर कहता है :—"ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी * खोजत आक फिरहिं पय लागी" इत्यादि अनन्त प्रमाण हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि महापुरुषों का रहन-सहन, वेष-भूषा, आहार-विहार, व्यवहार, आश्रमादि भिन्न भिन्न होता है। अतएव हम एक ही रूप में, एकही आश्रम में, एक ही व्यवहारादि में समस्त महापुरुषों को न तौलें। अन्यथा उनके नाटक में नष्ट हो जायँगे। हम केवल उनके अंतरङ्ग-विषयों का ही परिचय प्राप्त करें।

यदि अंतरंग-स्वरूप का निर्णय हो जायगा, तब बहिरंग, कुछ भी हुआ करे, सब ठीक है। यह एक बड़ी सूक्ष्म बात है। देखिये, जब हमने राम के विषय में समझ लिया कि वे भगवान् थे. तभी हम उनकी लीलाओं में तर्क नहीं करते। अर्थात् "भये प्रकट कृपाला दीन दयाला कौशल्या हितकारी" तथा "निज आयुध भुज चारी" इसी प्रकार पार्वती-मोह प्रकरण में :—भगवान् अपने पूर्वनाटक को समेट कर कहने लगे "मां! अकेली-क्यों बैठी हो?" इत्यादि इन अंतरंग लक्षणों से यह सिद्ध हो जाने पर कि वे भगवान् थे, हम अवशिष्ट नाटकीयलीलाओं में तर्क न करते हुये आनंद का अनुभव करते हैं। भ्रम में नहीं पड़ते। यदि राम के बहिरंगविषयों को ही हम लोगों ने देखा या सुना होता, तब तो यही कहना पड़ता कि राम, एक साधारण मनुष्य से भी गये गुजरे हैं, जो अपनी स्त्री सीता के लिये पेड़ों, पत्तों, लताओं, कंदराओं, आदि से पूछ रहे हैं कि मेरी सीता कहाँ है? तथा राम साधारण बुद्धिमान् भी नहीं हैं, जो कि सोने के हिरण को देख कर भी यह न समझ पाये कि संसार में सोने का हिरण नहीं होता, यह अवश्य ही कोई राक्षस है। इसी प्रकार अनंत उदाहरण हैं। पार्वती का मोह, गरुड़ का मोह भी इसी प्रकार का है। जिन्हें आप नित्यसिद्ध महापुरुष कहते हैं, क्या उन लोगों को इतना भी ज्ञान नहीं था? कि जब लोक में भी लोकरंजन के निमित्त विविध-कृत्रिमनाटक खेले जाते हैं, तब यदि परात्परब्रह्म राम ने ही भक्तों के रंजन के निमित्त, प्राकृतमनुष्य की भांति नाटक खेला, तो आश्चर्य ही क्या है?"

अर्जुन को देखिये—महाभारत में मोह, नाग-कन्यादि में आसक्ति। ब्रह्मा को देखिये—श्रीकृष्णलीला में मोह, कहां तक कहें ! समस्त महापुरुषों की अलौकिक, अचिन्त्य, विचित्रविलक्षणतायें हैं, जोकि पुराणादिकों में लिखित हैं। एकबार एक महाशय ने मुझसे कहा— "गरुड़ को, पार्वतीको, ब्रह्माको, नारद को, शङ्करादि सबको माया लग गई थी।" मैंने कहा—"क्यों भाई ? यदि इन सब को माया लग सकती है, तब तो भगवत्प्राप्ति करने से कोई लाभ नहीं है, व्यर्थ ही परिश्रम करना है। क्योंकि उपरोक्त गरुड़ादिकों की तो अनादि-काल से ही मायातीतावस्था थी, जब उन्हीं को माया लग गई, तब भला भगवत्प्राप्ति कर लेने पर भी हम लोगों की क्या गति होगी ? शास्त्र तो कहता है कि एकबार माया की आत्यन्तिक-निवृत्ति हो जाने के पश्चात् पुनः माया लग ही नहीं सकती। सदा के लिये माया का अत्यंताभाव हो जाता है। अच्छा जी ! तुम यह तो बताओ कि तुम्हें यह कैसे मालूम कि गरुड़ादिकों को माया लग गई थी ? महाशय जी ने कहा—"रामायणादि में लिखित प्रमाण हैं।" मैंने कहा—"क्यों महाशय जी ! यदि तुम्हारे सिद्धान्त से नित्य जीवन्मुक्तपरमहंस, भगवत्स्वरूप, भगवत्पार्षदरूप महापुरुषों को भी माया लग सकती है, तब हम यह भी तो कह सकते हैं कि तुम्हारे रामायण आदि के रचयिता, तुलसीदास आदि को भी माया लग गई होगी, जो ऐसा लिख गये। महाशयजी चुप हो गये। अभिप्राय यह कि महापुरुष अनेक बाने में रहते हैं। अनेकप्रकार के उनके विचित्रव्यवहार, बोलचाल, ढंग होते हैं, किंतु अंतरंग

रूप से समझ लेने पर, बहिरंग व्यवहारों में मोह नहीं व्याप्त होता। मैंने सारांश के प्रकरण के पूर्व ही महापुरुष के लक्षण के प्रकरण में :—महापुरुषों के परिचयार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दप्रमाणादि के द्वारा यत्किंचित् दिग्दर्शन करा दिया है, उसे पढ़ लेना, तथा स्वयं श्रद्धासंपत्ति-विशिष्ट होकर कुछ काल तक महापुरुषों का संग करना, तभी महापुरुष का आंशिकपरिचय प्राप्त हो सकता है। स्मरण रहे, परिचय प्राप्त हो जाने पर भी बुद्धि-बाद में पड़ कर दावा न करना! अन्यथा महापुरुष, प्राप्त हो कर भी छिन जायगा।

महापुरुष के परिचय के पश्चात्, उसमें श्रद्धा अपनेआप ही हो जाती है, किंतु एक बाधा वहाँ भी है, वह यह कि यदि हमें महसूस होता है कि हम क्षय (T. B.) के मरीज हैं, तभी हम इलाज भी कराने में तत्पर होते हैं, अन्यथा हम मानते तो हैं कि अमुक व्यक्ति डॉक्टर है, किन्तु इलाज नहीं कराते, भले ही डॉक्टर घर में ही क्यों न हो। अतएव हमें महसूस होना चाहिये कि संसार मिथ्या है, जाल है, बनावट है। हां, साधना करने का क्षेत्र अवश्य है। साथ ही उस संसार से हमें बड़ा लाभ भी हैं, किंतु बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है।

मेरी राय में तो संसार ही, भगवद्विषयक प्रवृत्ति का प्रथम गुरु है, जो आसक्तजीव को जूते मारमार कर चाँद गंजी कर देता है। स्वार्थपरायणता-वश खून चूसचूस कर अस्थिमात्रावशेष ही छोड़ता है। अर्थात् संसार ही सर्व-प्रथम आसक्तजीव को, क्रियात्मकरूप से अनुभवयुक्त यह शिक्षा देता है कि मैं मिथ्या

हूँ। मेरे चक्कर में न पड़ना। तुम्हें, मेरे पास सिवा अशांति के और कुछ नहीं मिलेगा। तभी तो वह आसक्त जीव, सद्गुरु डॉक्टर की छानबीन तथा इलाज कराने की सोचता है, अन्यथा तो वह उन्मत्त रहता है। दुःख भोगते भोगते वह इतना आदी हो गया है कि उसी दुःख में ही सुख की कल्पना करता रहता है, साथ ही यह कहता रहता है "अब सुख मिलने ही वाला है। बस अब मिला, बस मिला, मिला। इसी मिथ्याआशा में ही तो जीव, जीवित है। सारांश यह है कि संसार से हमें बड़ी शिक्षा मिलती है। अपनी अज्ञानता का परिचय मिलता है। जिससे हम सत्यमार्ग की ओर अभिमुख होते हैं। जब संसार की असारता का पूर्ण-निर्णय हो जाता है, एवं जीव, उस संसार से बार बार चिंतन द्वारा साधन-वैराग्य का लाभ प्राप्त करता है, तब यही साधनवैराग्य भगवद्विषयक साधना का कारण बन जाता है, यदि महापुरुष मिल जाय तो।

हाँ, तो जब संसार से विरक्ति हो जाती है, एवं महापुरुष पहिचानने में आ जाता है, तभी श्रद्धा भी प्रगाढ़ होती है, एवं तभी साधना भी होती है। जब साधना होने लगती है, अर्थात् साधना के द्वारा भगवान् में मन-बुद्धि का लगाव किया जाता है, एवं कुछ काल बाद स्वयं मन-बुद्धि का लगाव अपनेआप स्वाभाविक रूप से ही होने लगता है, तभी संसार से भी स्वाभाविकसिद्धवैराग्य होता है। उसके पूर्व तो वैराग्य करना पड़ता है, पश्चात् वैराग्य होने लगता है। तात्पर्य यह कि किसी व्यक्ति को यह भी न निर्णय दे देना चाहिये कि पहले वैराग्य हो जायगा, तभी भगवान् में अनुराग

होगा। अथवा यह भी निश्चय न कर लेना चाहिये कि प्रथम भगवान् में अनुराग होगा, तभी वैराग्य हो सकता है। जो इस भरोसे में बैठा है कि प्रथम, वैराग्य होगा, उसे यह समझ लेना चाहिये कि उसे पहिले, वैराग्य इसलिये नहीं हो सकता, क्योंकि संसार में ही सुख समझने का, उसका अनंतकाल का अभ्यास है, फिर, भगवद्विषयकरहस्य का भी अनुभव नहीं है, अतएव पहिले वैराग्य हो ही नहीं सकता। यदि कोई यह कहे कि पहले भगवान् में अनुराग होता है, तो उसे यह समझ लेना चाहिये कि अनुराग, इसलिये नहीं हो सकता, क्योंकि मन, संसार से खाली ही नहीं है। साथ ही भगवान्, प्रत्यक्ष भी नहीं हैं। अतएव इन दोनों ही पक्षों के मानने वालों को समझ लेना चाहिये कि दोनों ही गलत हैं। शुद्ध-सत्यसाधना-संबंधी क्रम यह है कि सर्वप्रथम जीव को, संसार का स्वरूप भलीभांति समझना चाहिये। तत्पश्चात् उस संसार के मिथ्यात्व पर बारबार विचार करना चाहिये। बारबार विचार करने से, जब मन को संसार से घृणा होने लगे, तब उसे संसार से हटाहटाकर महापुरुषों की बताई हुई साधना के द्वारा भगवद्विषय में लगाना चाहिये। इसप्रकार कुछदिन संसार से हटा हटाकर भगवद्विषय की ओर लगाने का अभ्यास करने पर, जितनीमात्रा में स्वाभाविकरूप से ही भगवद्विषय में मन लगता जायगा, उतनी ही मात्रा में संसार से भी स्वतः ही विरक्त होता जायगा। यही क्रमाभ्यास, आगे चल कर पूर्णता को प्राप्त हो

जायगा, जब कि भगवान् में पूर्णअनुराग एवं संसार से पूर्ण-वैराग्य हो जायगा। उसी अवस्था पर महापुरुष एवं भगवान् की अकारणकृपा से जीव को भगवत्प्राप्ति हो जायगी, जिसके परिणाम-स्वरूप भगवत्कृपा से ही जीव के संचितकर्म भस्म हो जायँगे। प्रारब्धकर्म, नाटकीय-रूप से भोग कर समाप्त हो जायगा। क्रियमाण कर्म, भगवदिच्छा से ही प्रेरित हो कर हुआ करेगा। इसप्रकार तीनों ही कर्मों से मुक्त हो कर जीव, निज-श्रीकृष्ण-दासस्वरूप को प्राप्त होकर सदा के लिये गोलोक में अनिर्वच-नीय प्रेमरसमाधुरी का पान करेगा।

साधना

साधना तो, सदा अपने गुरु के आदेशानुसार ही करनी चाहिये। किंतु जब तक तुम्हें गुरु न मिले, तब तक निम्नलिखित साधना ही कर लेना। यह भी किसी गुरु की ही बताई हुई साधना है।

मोक्षपर्यंत की कामना न करना :—

साधना में प्रथम यह विचारणीय है कि हम सांसारिकसुखों से लेकर मोक्षपर्यन्त के सुखों की कामना न करें। प्राय: देखा जाता है कि लोग, साधना के पूर्व ही सांसारिकविषयों की अनन्तानन्त कामनायें अपने हृदय में भर लेते हैं, साथ ही दावा यह करते हैं कि हम सकाम भक्त हैं। अरे भाई! सकामभक्त का अभिप्राय भी यह नहीं होता, क्योंकि सकामभक्त तो, भक्त भी होता है। तुम तो केवल सकाम हो, फिर द्रौपदी, गजराज आदि सकामभक्तों की समानता कैसे करोगे?

सांसारिककामना की भावना से उपासना करने में कई हानियाँ हैं। एक तो यह कि तुम अभी यह भी नहीं समझते कि संसार में सुख है? अथवा भगवान् में? यदि संसार में ही सुख है, तो भगवान् की क्या आवश्यकता! यदि भगवान् में ही सुख है, तो संसारसंबंधीकामना की क्या आवश्यकता? तात्पर्य यह कि संसाररूपी माया एवं

भगवान् दोनों ही परस्पर विपरीततत्व हैं। भगवान् में सुख मानते हुए भी संसारसम्बन्धी-कामना करने वाली बात तो ऐसी ही है, जैसे कोई कहे—"मुझे अग्नि के पास शीतलता मांगने जाना है।" अरे! मोटी सी बात है, यदि हमें आनन्द ही चाहिये, तो आनन्द के आश्रयभूत-भगवान् को छोड़ कर दुःख के आश्रयभूत-संसार की कामनापूर्ति के लक्ष्य से भगवान् की उपासना करने का तो स्पष्ट मतलब यही है कि हम अभी तक यही समझे हैं कि संसार में ही हमारावाला अनन्तसुख है। अतएव अभी जब लक्ष्य ही, सही सही नहीं बन पाया, तब साधना आदि ही कैसे होगी? सिद्धि की तो कल्पना ही क्या की जाय? सांसारिक वस्तुयें तो प्रतिक्षण, वासनाओं की वृद्धि ही करने वाली हैं। उनके पाने पर तो, और अभिमान बढ़ेगा। स्मरण रहे, अभिमान ही भगवान् से विमुख करने का प्रमुखकारण है।

दूसरी बात यह है कि संस्कारों के अनुसार ही, जब जीव को सांसारिक वस्तुयें मिलती जायँगी, तब वह भगवान् की कृपा का नारा लगायेगा, एवं जब ही संस्कारों के अनुसार ही, सांसारिक-वस्तुयें न मिलेंगी, तब ही भगवान् के कोप का भी स्पष्टनारा लगायेगा। संसार की वस्तुओं की प्राप्तिअवस्था में आस्तिक एवं अप्राप्तिअवस्था में नास्तिक बना करेगा। अतएव सांसारिक-वस्तुओं की कामना का ही निर्मूलपरित्याग कर देना, साधक के लिये हितकारक होगा।

तीसरी बात यह है कि यदि कोई, यह भी कहे कि भगवान्

तो सदा ही मेरी सुन लेते हैं। मैं तो सदा अपनी शुष्कपुकार से-अपना काम करा लेता हूँ, तो भाई! धन्य भाग्य हैं उसके!! जिसके लिये भगवान् ने अपना विधान, अत्यन्त ही सरल कर दिया, किंतु तब तो उसको यह भी चाहिये कि एकबार भगवान् को ही, भगवान् से माँग ले। बारबार मांगने की बीमारी ही समाप्त हो जाय। जिस संसार में कहीं सुख नहीं है, एवं जिस संसार की वासनापूर्ति के पश्चात्, और भी विकरालवासना उत्पन्न होती है, उस संसार को बारबार माँगने में हानि ही तो है। एकबार भगवान् अथवा भगवद्दर्शन अथवा भगवत्प्रेम को ही माँग लेने से मांगने की जड़रूपवासना ही का अत्यन्ताभाव हो जायगा। जीव, पूर्ण-काम, परमनिष्काम बन जायगा। किंतु यह सब तो विचार ही विचार है, क्योंकि जीव ही, झूठमूठ ऐसा कहता है कि भगवान् मेरी सुन लेते हैं, वह अल्पज्ञ, संस्कारजन्य को ही अपनीपुकार का कारण समझता है। है तो अच्छा! क्योंकि इसी बहाने से ही सही, भगवान् की कृपा का अनुभव तो करता है। किन्तु भयानक भविष्य यह है कि यह भाव स्थिर नहीं रह सकेगा, क्योंकि इस भाव का आधार, सांसारिकवासनापूर्ति ही तो है। जब सांसारिक वासनापूर्ति का अभाव हो जायगा, तब उसके उपरोक्तभाव का भी अभाव हो जायगा।

चौथी बात यह है कि जब जीव, शास्त्रों द्वारा यह समझता है कि भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं। वे जो कुछ भी हमारे लिये समझेंगे, करेंगे ही! तब उसे अपनी टाँग अड़ाने की आवश्यकता

ही क्या है ! क्योंकि अल्पज्ञजीव तो, यह भी नहीं जानता कि मेरा वास्तविक हित किसमें है ? अतएव यदि भगवान् को सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ समझ कर यह सब उन्हीं पर छोड़ दिया जाय, तो माँगने की बीमारी ही उत्पन्न न हो।

पांचवीं बात यह है कि शास्त्रों के अनुसार प्रत्येक जीव, कर्म-बंधन में है । प्रारब्धानुसार जितना भी संसारीसुख, "जिसका वास्तविकस्वरूप दुःख है" जिसके भाग्य में लिखा है, मिलेगा ही। अरे भाई ! हम जब शास्त्रों में पढ़ते हैं कि सर्वशक्तिमान् भगवान् राघवेन्द्रसरकार के पिता मर गये, किन्तु राम ने नहीं बचाया। इसी प्रकार जिनके मामा-पूर्णतमपुरुषोत्तमब्रह्मश्रीकृष्ण, पिता-महापुरुषअर्जुन, दोनों मिलकर भी नहीं बचा सके । तब हमें भी समझ लेना चाहिये कि हम दशरथ, अभिमन्यु आदि से तो बड़े नहीं हैं, जो हमारे लिये भगवान् का अकाट्य-विधान कट जायगा, फिर वह भी शुष्क वितंडावाद से !

छठीं बात यह है कि हमको यह भी समझ लेना चाहिये कि संसारीवस्तुओं का अभाव ही, भगवान् की कृपा है, क्योंकि उसी अवस्था में जीव, उन्मत्त नहीं रहता । अतएव उस सुन्दर अवस्था की ही चाह होनी चाहिये । जिस अवस्था में भगवान् का स्मरण न हो, ऐसी अवस्था को, फिर वह भी माँग कर, फिर वह भी भगवान् से ही माँग कर चाहने से क्या लाभ ! जिसे पाकर हम भगवान् को ही भूल जायँ।

इसके अतिरिक्त अनंतहानियाँ हैं, जो साधना ही न करने

देंगी। महापुरुष-शरणागति ही न होने देंगी। फिर आगे होगा ही क्या? अतएव हमें मोक्षपर्यंत की इच्छाओं से रहित होना होगा।

हमें सत्यस्वार्थ की ही कामना करनी चाहिये। वह सत्य-स्वार्थ है :—भगवान् का निष्कामप्रेम प्राप्त कर लेना। तुलसी के शब्दों में :—

"स्वारथ सर्व जीव कहँ एहा*मन, क्रम, वचन राम पद नेहा"

उपरोक्तभाव का ही दूसरा अभिप्राय यह भी है कि हमारा सत्यस्वार्थ है भगवान् को प्रसन्न करना, अथवा उनकी रुचि में ही रुचि रखना। वास्तव में यही उपासना का विशुद्धस्वरूप है। इसीलिये तो समस्त महापुरुष कहते हैं। यथा:—

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्" (नारदजी)

"सर्वाभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्" (रूपगोस्वामी)

"अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे" (वेदव्यास)

तात्पर्य यह कि सभी शास्त्रों का यही निर्विवाद सिद्ध-सिद्धान्त है, कि मोक्षपर्यन्त की इच्छायें भगवत्प्रेम में बाधक हैं। इस विषय में तुलसीदास का एक दोहा मुझे अत्यन्त ही प्रिय लगता है :—

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्यजल*उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट*मरतहुं लगी न खोंच॥

अर्थात् एक बहेलिये ने, एक चातक को बाण मारा। वह चातक, पुण्यसलिला भगवतीभागीरथीगंगा में बाण से बिंधा हुआ गिर गया, किंतु उसने यह सोच कर चोंच, जल के ऊपर

उठा लिया कि कहीं मृत्युकाल में, गंगाजल के द्वारा मेरी मुक्ति न हो जाय ! तथा प्रेम के उज्वलवस्त्र पर मोक्ष का कलंक न लग जाय ! धन्य है उस चातक को ! जिसने मृत्युकाल में भी प्रेम के उज्वलवस्त्र पर मोक्ष का धब्बा नहीं लगने दिया। चोंच के ऊपर उठाते ही चातक मर गया, किंतु अपने प्रेम को अमर कर गया। यही तो प्रेम का आनंद है।

मेरी राय में तो मुक्ति से भी अच्छी भुक्ति (सांसारिक विषय-भोग) ही है, जिसमें कम से कम, यह आशा तो रहती है कि कभी न कभी संसार से वैराग्य होगा. महापुरुष मिलेगा, साधना होगी, एवं भगवत्प्रेम मिलेगा। किंतु यदि कहीं मुक्ति हो गई, तब तो सारा खेल ही खत्म हो जायगा। तात्पर्य यह कि पुनर्जन्म न होने के कारण जीव, सदा के लिये प्रेमरस से वंचित हो जायगा। अतएव मुक्ति की कामना तो, भुक्ति से भी भयानक है। उससे सदा सावधान ही रहना चाहिये। क्योंकि भगवान् भी मुक्ति देकर भक्त को धोखा देना चाहते हैं। महापुरुषों ने तो मुक्ति को पिशाचिनी बताया है। यथा रूपगोस्वामी:—

"भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्"

एक कथानक तुमने सुना होगा, वृन्दावन में एक श्रीकृष्णप्रेमी-रसिक थे। प्रेमरसमदिरा की मस्ती में उन्मत्त हो कर, अज्ञात-दिशा को भागे जा रहे थे। अचेतनावस्था में भागते हुये अचानक उनकी जटा, एक झाड़ी में उलझ गई। भागना बन्द

हो गया। जबप्रेमसमाधि खुली, तब उन्होंने देखा कि मेरी जटा तो झाड़ी में उलझ गई है, किन्तु तत्क्षण ही उन्होंने सोचा कि कदाचित् मेरे प्रियतमश्रीकृष्ण की मुझे इस रूप में ही देखने की इच्छा हुई हो, अतएव मुझे प्यारेश्यामसुन्दर की रुचि के विपरीत, झाड़ी में उलझी हुई जटा को सुलझाना उचित नहीं। वे इसी प्रकार कईदिन तक खड़े रहे। भक्तवत्सल भगवान् से जब न देखा गया, तब वे एक पथिक के वेष में आकर महात्मा जी से कहते हैं—"अरे बाबाजी! तुम बड़े ही आलसी हो, जो झाड़ी में उलझी हुई जटा भी नहीं सुलझा सकते।" पहले तो बाबाजी ने सुनी अनसुनी करदी, किन्तु पथिकभगवान् के बार-बार ऐसा कहने पर बाबाजी ने उत्तर दिया-"आप अपने रास्ते से जाइये, आपको किसी मियाँ, बीबी के बीच में बोलने का क्या अधिकार है? हमारे प्रियतम को मुझे इसी रूप में खड़ा हुआ देख कर सुख मिलता है, आपसे क्या मतलब?" पथिक भगवान्, बाबाजी के इस उत्तर को सुन-कर किंकर्तव्यविमूढ़ से खड़े रह गये। कुछ सोच कर पुनः भगवान् ने कहा-"अरे बाबाजी! वह प्रियतम मैं ही हूँ, लो आगया! अबतो जटा सुलझा दूँ।" बाबाजी ने कहा-"वाह!! क्या खूब!!! तुम्हारी तरह कोई भी पथिक, आकर किसी की प्रेयसी से कहे कि मैं ही तो तुम्हारा प्रियतम हूं, यह भला कौन सी प्रेयसी मान लेगी? मेरा प्रियतम तो वृन्दावनबिहारी श्यामसुन्दर है।" भगवान् को हारकर उसी रूप में आना पड़ा। भगवान् ने कहा—"अच्छा भाई! अब तो ठीकहै?" बाबाजी ने कहा-"खबरदार! मुझे मत छूना। किसी प्रेयसी

को छूना अपराध है। मुझे अभी शंका है।" अहा हा ! क्या ही है रसिकों का सरस रसमय भाव ! बाबाजी का अभिप्राय था कि अच्छा अवसर है, राधिकाजी के दर्शन करने का। अतएव बाबाजी ने कहा—"यदि वृषभानुनंदिनी राधिकाजी कह दें कि ये ही श्यामसुन्दर हैं, तब हम मान सकते हैं।" अन्ततोगत्वा, राधिका जी को भी प्रकट होना पड़ा, तब बाबाजी की उलझी हुई जटारूप-समस्या सुलझ पाई। यह है प्रियतम की रुचि में रुचि रखना। अर्थात् निष्कामप्रेम-रहस्य।

ज्ञान, कर्म, आदि किसी भी आवरण का न होना :—

भक्ति स्वतंत्र है। उसे किसी भी आवरण की आवश्यकता नहीं। यज्ञ, दान, व्रतादि में जो त्रुटि रह जाती है, जब भक्ति ही उसे पूरा करती है, तब भला भक्ति को, उन कर्मों की क्या अपेक्षा हो सकती है? जब-जब ब्रह्मादिदेवताओं के समक्ष, अवतार लेने का प्रकरण आया, तब-तब यद्यपि कई देवताओं ने तपश्चर्या, यज्ञ आदि की राय दी थी, तथापि सदा ही शंकरादि की राय के अनुसार भक्तियुक्तचित्त से संकीर्तन-द्वारा ही वह कार्य संपादित किया गया। अर्थात् प्रेम-पुकार से तत्क्षण ही भगवान् का प्राकट्य हो गया। यह है भक्तिदेवी की महिमा। ज्ञान, विज्ञान, तपस्या, योग, यज्ञादि का जो कुछ भी फल हो सकता है, वह सब भक्ति से, अनायास ही प्राप्त हो जाता है, किन्तु भक्तिका फल, किसी भी कर्म से नहीं प्राप्त हो सकता। यह मैंने पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है। अतएव महापुरुषों ने कहा है :—

"तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना" (तुलसीदास) मुक्ति भी, जिस भक्ति की भक्ति (दासता) करती है, उस भक्ति को, मुक्ति के साधन-स्वरूप, ज्ञान एवं वैराग्यादि कर्मों की क्या अपेक्षा हो सकती है ? हाँ ! जिस ज्ञान एवं कर्मादि से भक्ति की वृद्धि हो, वह तो अपेक्षित है, अन्य नहीं। सारांश यह है कि भक्ति के संवर्धन करने वाले, भक्ति के ही साधनासम्बन्धी ज्ञान, कर्मादि अपेक्षित हैं।

भक्ति ही एक ऐसी शक्ति है, जिसके आधीन :-कर्मादि के फल-स्वरूप ज्ञान, तथा ज्ञानादि की फलस्वरूपा मुक्ति, एवं मुक्ति के भी स्वामी पूर्णतमपुरुषोत्तम भगवान् रहते हैं। भगवान् की भगवत्ता को भक्ति ही नष्ट कर सकती है, अन्यथा तो वे, जीवन्मुक्त-परमहंसों के भी ध्यानरूप में स्वामी ही बने रहते हैं। यह सामर्थ्य तो एकमात्र महादेवीभक्ति में ही है, जो अपने संकेत पर भगवान् को नचाया करती है। अतएव भक्ति, सर्वोच्च, निरपेक्ष, एवं ज्ञान, कर्मादि-आवरणों से रहित होती है।

अनुकूल-भाव से श्रीकृष्ण का अनुशीलन :—

आनन्दकन्द-सच्चिदानंद-श्रीकृष्ण की उपासना, यद्यपि काम, भय, द्वेष, स्नेह आदि किसी भी भाव से की जाय, साधक को भगवत्प्राप्ति ही होती है, किन्तु महारसिकों के सिद्धान्तानुसार प्रतिकूल एवं सकामभाव वर्जित हैं। वे कहते हैं कि भगवान् की उपासना, एकमात्र अनुकूल-भाव से ही करनी चाहिये, तभी उच्चतम-प्रेमरसमाधुरी का पूर्णआस्वादन साधक कर सकेगा। अनुकूलभाव पाँच होते हैं (१) शान्त भाव (२) दास्य भाव

(३) सख्य भाव (४) वात्सल्य भाव (५) कान्त या माधुर्य भाव।

इन्हीं पाँच अनुकूलभावों से श्रीकृष्णोपासना, रसिकमत सम्मत है। इन पाँचों अनुकूलभावों में भी कुछ विशेष विचारणीय विषय है, वह यह कि कांतभाव में पिछले चारों भावों का समावेश है। अर्थात् कांतभाव के उपासक को पूर्णस्वातंत्र्य है, वह किसी भी भाव में जा सकता है। वात्सल्यभाव का उपासक, कान्तभाव को छोड़ कर अन्य सभी भावों में जा सकता है। सख्यभाव का उपासक, वात्सल्य एवं कांतभाव को छोड़ कर अन्य सभी भावों में जा सकता है। दास्यभाव का उपासक, सख्य, वात्सल्य एवं कांतभाव को छोड़ कर सभी भावों में जा सकता है। किन्तु शान्तभाव का उपासक, केवल शान्तभाव में ही रह सकता है। शान्तभाव की उपासना, रसिकों में बहुत कम ही देखी जाती है। बहुधा दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं कांतभाव के ही रसिक पाये जाते हैं। इस प्रकार कांतभाव ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुआ। अतएव हमें भी कांतभाव को ही अपनाना चाहिये। जिस प्रकार संसार में भी, स्त्री को सभी अधिकार प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार दिव्य कान्तभाव में भी लोक से भी अनन्तगुना पूर्णाधिकार, प्रेयसी को प्राप्त होता है। क्योंकि वहाँ धर्मादि की मर्यादा का आवरण नहीं है। कांतभाव के ही महारसिक, सर्वोच्च माने जाते हैं। महारास आदि प्रमुखमहारसों में कांतभाववालों का ही प्रवेश है। अतएव प्रेमरस में भी चरमरस के आस्वादन के

हेतु, हमें अनुकूल-कांतभाव को ही अपनाना चाहिये। यही भाव, समस्त रसों का सार है। जीव का परम चरमलक्ष्य, इसी भाव पर परिपूर्ण होता है। वैसे तो सभी भाव, रसिकों के ही हैं, किसी भी भाव में दुर्भाव न होना चाहिये। यह तो रसिकों के परम अंतरंग रहस्य हैं, जिसे तुम अभी भलीभांति नहीं समझ सकोगे। अंतःकरण की शुद्धि के पश्चात्, यत्किंचित् अनुभवात्मक अनुमान लगा सकोगे।

अब मैं दास्य, सख्य, वात्सल्य, एवं माधुर्यभावों को उदाहरण देकर समझाता हूं।

दास्य-रस :—

"पंचत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटम्
धातारं प्रणिपत्य हंत ! शिरसा तत्रापि याचे वरम्
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयांगन—
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः"

अर्थात् हे स्वामी श्रीकृष्ण ! जब मेरा प्राण, इस शरीर से निकल जाय, तब इस शरीर के पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश निम्नलिखित प्रकार से आपकी सेवा में लग जायँ, यह मैं, सृष्टिकर्ता विधाता से भी प्रार्थना कर रहा हूँ। जिस बावड़ी में श्रीकृष्ण, स्नान करते हों उस बावड़ी में मेरे शरीर का जलतत्व जाकर मिल जाय। जिस दर्पण (शीशा) में श्रीकृष्ण, अपना मुख देखते हों, उस दर्पण में मेरे शरीर का तेजतत्व जाकर मिल जाय। जिस आँगन में मेरे स्वामी श्रीकृष्ण खेलते हों, उस आंगन में मेरे शरीर का आकाश

तत्व जाकर मिल जाय। जिस मार्ग से श्रीकृष्ण, सदा जाते हों, उस मार्ग की पृथ्वी में मेरे शरीर का पृथ्वीतत्व जाकर मिल जाय। जिस पंखे की वायु के द्वारा मेरे स्वामी श्रीकृष्ण की सेवा की जाती हो, उसमें मेरे शरीर का वायुतत्व जाकर मिल जाय।

सख्य-रस :—

"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत !" (गीता)

"उन्निद्रस्य ययुस्तवात्र विरतिं सप्तक्षपास्तिष्ठतो-
हंत ! श्रान्त इवासि निक्षिप सखे ! श्रीदामपाणौ गिरिः
आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किंवा क्षणं दक्षिणम्
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम्"

अर्थात् जिससमय श्रीकृष्ण, गोवर्धनपहाड़ को एक अंगुली पर उठा कर खड़े थे, उससमय एक सखा, श्रीकृष्ण से कहता है "हे मित्र श्रीकृष्ण ! तुम्हें खड़े खड़े सातदिन बीत गये, एवं बिना सोये भी सातरात्रियाँ बीत गईं। हाय ! हाय !! तुम थक गये होगे ! अतएव कुछ क्षण के लिये इसपहाड को, श्रीदामा के हाथ में दे दो। मुझसे अब यह दुःख देखा नहीं जाता। यदि ऐसा भी न कर सको, तो कम से कम इस पर्वत को दूसरे हाथ की अंगुली से उठा लो तब तक मैं तुम्हारे दूसरे हाथ को दबा दूंगा।

वात्सल्य-रस :—

"पंकाभिषिक्तसकलावयवं विलोक्य दामोदरं वदति कोपवशाद्यशोदा
त्वं शूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे ! रित्युक्तिसस्मितमुखोऽवतु नो मुरारिः"

अर्थात् धूलि-धूसरित श्रीकृष्ण से यशोदा की अत्यंत रोषपूर्ण उक्ति :—सारे शरीर में धूलि लपेटे हुए श्रीकृष्ण को देखकर यशोदा को अत्यंत ही क्रोध आ गया। यशोदा ने कहा "मैंने अभी अभी नहलाया था, तुम फिर धूलि में लोट आये। तुम पिछले जन्म के शूकर जान पड़ते हो।" यह सुन कर भगवान्, अपने पूर्वजन्म के शूकरावतार का स्मरण करके मुस्कराने लगे।

कान्त-भाव :—

"निगमतरौ प्रतिशाखं मृगितं मिलितं परंब्रह्म
मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटीपटांचले नद्धम्"

अर्थात् जिस ब्रह्म को, वेदरूपी वृक्ष की प्रत्येकशाखाओं में, ढूंढ़ने पर, ज्ञानियों ने पृथक् पृथक् बिखरा हुआ पाया था, उसी ब्रह्म को बिना ढूंढ़े ही, एक ही जगह, इकट्ठे ही, ब्रजगोपियोंके पटाञ्चल (वस्त्र के आँचल) में बँधा हुआ पाया।

इसप्रकार मोक्षपर्यन्त की इच्छाओं से रहित, ज्ञान, कर्मादि आवरणों से अनावृत, अनुकूल माधुर्यभाव से, श्रीकृष्ण की उपासना करना, जीव का चरमलक्ष्य सिद्ध हुआ। भक्ति के अधिकारित्व के विषय में, मैंने पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है। अब साधक को यह देखना है कि भक्ति की साधना कैसे की जाय? भक्ति, अनन्तप्रकार से की जाती है, जिसकी रुचि, जिसप्रकार से हो जाय। इसमें साधक के लिये किसी प्रकारकी पाबन्दी नहीं है। किंतु उन समस्तप्रकारों को नवभागों में विभक्त कर दिया है, जिसे नवधाभक्ति कहते हैं। यथा :—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोरर्चनं पादसेवनम्

स्मरणं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्”

इन नवप्रकार की भक्ति की साधनाओं में सभी, श्रेष्ठ एवं उपयुक्त हैं, किंतु सरलता के दृष्टिकोण से शीघ्रातिशीघ्र सिद्ध होने वाली साधना, संकीर्तन ही है। कारण यह है कि इस कराल-कलिकाल में अन्यसाधनाओं द्वारा भगवद्विषय में मन-बुद्धि का लगाव देर में होता है। भागवत कहती है :—

“कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः
द्वापरे परिचर्यायां कलौ संकीर्त्य केशवम्” (भा० १२-३ ५२)

इसीभाव को लेकर रामायण भी कहती है :—

कृत युग सब योगी विज्ञानी, करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी
त्रेता विविध यज्ञ नर करहीं, प्रभुहिं समर्पि कर्म भव तरहीं
द्वापर करि रघुपति पद पूजा, नर भव तरहिं उपाय न दूजा
कलियुग केवल हरि गुनगाहा, गावत नर पावत भव थाहा

यद्यपि भगवन्नाम, गुण, लीलादिकों का उच्चस्वर से गान ही संकीर्तन है, तथापि संकीर्तन में बहुत सी बातें अवश्यंज्ञेय हैं। सर्व-प्रथम, दीनता अनिवार्य है।

दीनता :—

“तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः”

अर्थात् तृण से बढ़ कर दीनभाव, वृक्ष से बढ़कर सहिष्णु-भाव, सब को सम्मान देने का भाव, स्वयं सम्मान न चाहने का भाव ही दीनता का स्वरूप है। इसी दीनता की आधारभित्ति पर

ही भक्ति की साधना का महल खड़ा होता है। अतएव इस दीनता पर प्रमुखतया ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि जहाँ दीनता छिनी, तत्क्षण ही अहंकार आया, एवं जहाँ ही अहंकार आया, तत्क्षण ही भक्ति के महल को गिरा कर हृदय में भगवान् के स्थान पर विराजमान हो गया। अहंकार एवं भगवान् इन दोनों में एक ही समय में, एक ही निवास कर सकता है। अतएव दीनता छिन जाने का अभिप्राय है भगवान् से विमुख हो जाना।

'रूपध्यान :—

संकीर्तन में रूपध्यान ही परमप्रमुख अंग है। साधक के लिये रूपध्यान परमावश्यक है। जब तक रूपध्यान परिपक्व न होगा, तब तक मन को टिकाने का कोई आधार ही न होगा, जिसके परिणाम-स्वरूप आनन्द का अनुभव भी न हो सकेगा। अनुभव के बिना साधक, थककर निराश हो जायगा, एवं हतोत्साह होकर पुनः सांसारिकविषयों में प्रवृत्त होने लग जायगा। रसिकों ने रूपध्यान के विषय में शास्त्रों में जिस प्रकार शृंगार आदि का वर्णन किया है, उसी का आश्रय लेना चाहिये। सहायतार्थ, मूर्ति या चित्र या मानसिकस्वरूप ही बना लेना चाहिये। यह सब साधक की रुचि पर निर्भर है। भगवान् के अनन्तस्वरूप हैं, एवं हो सकते हैं। अतएव हम किसी भी स्वरूप का अवलंबन ले सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि हम तस्वीर या मूर्ति आदि को निश्चलरूप एवं एकदेशीय ही न मानें, वरन् उसे चिन्मयदेहयुक्त

तथा भगवत्ता के समस्तगुणों से विशिष्ट, एवं पतितपावन, अकारणकरुण, अधमउधारण, बिनुहेतुसनेही आदिगुणों से भी युक्त मानें। हम, उस मूर्ति-आदि स्वरूप भगवान् को सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी आदि शक्तियों से भी युक्त मानें, अन्यथा हमारी उपासना, भगवान् श्रीकृष्ण की न बनकर, पत्थर की मूर्ति की ही रह जायगी। साथ ही यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हम, उस मूर्ति या चित्र में वास्तविकभगवान् के अस्तित्व का निश्चय करते हुये यह भी न भूलें कि वे मूर्ति या चित्रादिवाले भगवान्, प्रतिक्षण हमारे साथ हैं।

बहुधा, साधकों में यह दोष होता है कि वे जबतक मूर्ति के समक्ष बैठकर संकीर्तनादि की साधनायें करते हैं, तबतक तो उस मूर्ति को भगवद्गुणविशिष्ट मानते हैं, पश्चात् अपनेआप को भगवान् से पृथक् कर देते हैं, ऐसा करने से साधक, भगवान् का उपासक नहीं कहलायेगा। उसे तो सदा ही अपने इष्टदेव को मन-बुद्धि के साथ ही रखना चाहिये। प्रायः लोग, मन्दिरों में पूजा आदि करते समय अपनेआप को भगवान् के समक्ष कुछ न कुछ अंश में मानते हैं, किन्तु पश्चात् यह भूल जाते हैं कि मेरा भगवान् तो सर्वव्यापक है, वह सदा ही मेरे साथ रहता है। यदि हम यह सावधानी न रखेंगे, तो उपासना का स्वरूप ही विकृत हो जायगा, एवं हम, भगवान् से पृथक् होकर मनमाने बनकर उच्छृंखल हो जायँगे। इसका अभिप्राय तो यह भी हुआ कि हमारा इष्टदेव सर्वसमर्थ भगवान् नहीं है। वह भी लोक की भाँति ही एकदेशीय

एवं सीमित है। तुम जब कभी मूर्ति आदि के समक्ष जाओगे, तभी उपासक कहलाओगे, पश्चात् नास्तिक। अतएव भगवान् को, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक आदिगुणों से विशिष्ट ही समझ कर, उन्हें सदा अपने साथ ही रखना चाहिये। भूलकर भी उन्हें अपने से पृथक् न करना चाहिये।

संसार के कार्य करते हुये भी बीच-बीच में बारम्बार "भगवान् मेरे सामने हैं" इसप्रकार रूपध्यान-द्वारा निश्चय करते रहना चाहिये। इससे दो लाभ हैं :—एक तो रूपध्यान परिपक्व होगा, दूसरे हम, भगवान् को अपने समक्ष, साक्षात्‌रूप से महसूस करते हुए उच्छृंखल न हो सकेंगे, जिसके परिणाम-स्वरूप अपराधों से बचे रहेंगे। जीव तो, किंचित् भी स्वतंत्र हुआ कि बस, वह धाराप्रवाह-रूप से संसार की ही ओर भागने लगा!

अतएव सदा रूपध्यान-युक्त, अपने मूर्तिआदिवाले भगवान् को सदा अपने साथ, साक्षात्‌रूप से समझना चाहिए। यह साधना, सांसारिककार्य करते हुए भी बीच-बीच में "एक, दो सेकंड के लिए ही सही" करते रहना चाहिए। देखो, रूपध्यान इतना प्रमुख है कि जिसके बिना कोई भी नाम-गुण-लीलादिक-संकीर्तन-विषय, शीघ्र रसप्रदान नहीं कर सकता। जब साधक को रस-विशेष की अनुभूति ही न होगी, तब वह स्वयं साधना से थक कर बैठ जायगा। बात यह है कि चंचल मन को टिकाने का, रूपध्यान ही एकमात्र साधन है। मन तो अनादिकाल से रूप, गुण आदि को ही चाहता चला आया है, उसे पूर्व में ही, केवल नाम में ही

इतनी प्रगाढ़निष्ठा कहां से हो जायगी? अतएव बड़ी सावधानी के साथ रूपध्यान पर विशेषध्यान देना चाहिए।

मेरी राय में तो रूपध्यान के बिना नाम-संकीर्तनादि-उपासना ही न करनी चाहिए। यह ठीक है कि भगवन्नाम मंगलकारक है। नाम में अनंतशक्तियां हैं, यह भी निश्चित है। पर किसके लिए? कलिमलग्रसित-साधारणसाधक के लिए नहीं। देखो, मैं तुम्हें एक लौकिकउदाहरण द्वारा समझाता हूँ। एक वास्तविक शराबी को मय (शराब) अथवा मयख़ाने का नाम ही, मस्ती पैदा कर देता है। एक शराबी को शराब का दर्शन, स्पर्श आदि ही मस्ती पैदा करा देता है। एक शराबी को शराब पीने से ही मस्ती आती है, किन्तु एक शराबी को शराब के नाम से ही चिढ़ है। उसने शराब की मस्ती का कभी भी अनुभव नहीं किया, वह शराब के नाम-गुण आदि के संकीर्तन से, किस प्रकार रसास्वादन कर सकता है। हाँ, जब शराबी वास्तव में ही शराब की मस्ती का अनुभव कर लेगा, एवं परिपक्व शराबी बन जायगा, तब वह भी, साक़ी अथवा मय अथवा मयख़ाने के नामादि से ही मस्ती का अनुभव करने लगेगा। ठीक इसीप्रकार जब हम भी नाम में नामीयुक्त-प्रेमरस का अनुभव कर लेंगे, तब तो सचमुच ही—

"एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः"

(भा० ११-२-४०)

"अर्थात् अपने प्रिय के नाम-गुणादि के संकीर्तनमात्र से, नाम

लेने वाले के हृदय में प्रेम की बाढ़ आ जाती है, हृदय पिघल जाता है, वह कभी जोरों से हँसने लगता है, कभी रोने लगता है, कभी चीत्कार करने लगता है, कभी गाने लगता है, कभी लोक की परवाह न करते हुए उन्मादरोगी की भांति उन्मत्त हो कर नाचने लगता है।" के अनुसार नामादिमात्र सुनने अथवा लेने से ही मस्त होने लग जाएँगे। किन्तु जब तक ऐसी अवस्था नहीं आती, तब तक तो हमें, शृंगारादि से युक्त रूपध्यान, साथ ही लीलादिकों का भी ध्यान ही उपयुक्त हो सकता है। बात यह है कि अनादिकाल से अभ्यस्त होने के कारण मन, बिना सगुण-साकार विषय के स्थिर ही नहीं हो सकता। अतएव रूपध्यान के बिना संकीर्तनादि की साधना नहीं करनी चाहिए।

रूपध्यान, सहसा नहीं हो जायगा। देखो, घबड़ाने की कोई बात नहीं, लोक में भी तो कोई कार्य सहसा नहीं हो जाता। कुछ दिन साधना करने पर ही ऐसा होता है। यह सिद्धान्त सदा स्मरण रखना चाहिए कि अभ्यास के द्वारा ही धीरे-धीरे मन का लगाव होगा। यथा :—

"असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते" (गीता ६-३५)

अर्थात् भगवान्श्रीकृष्ण, अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! निश्चित ही मन चंचल है, उसका निग्रह भी कठिनतापूर्वक हो पाता है, किन्तु अभ्यास एवं वैराग्य से धीरे-धीरे मन, वश में हो जाता है। इसी सिद्धान्तानुसार कुछ काल तक रूपध्यान का अभ्यास

करना होगा। फिर तो धीरे-धीरे स्वयं होने लग जायगा, तथा थोड़े ही दिनों में वह रूप, तुम्हारी आँखों एवं मन में बस जायगा, तुम्हारे लिये आगे चल कर वही रूपध्यान, स्वाभाविकरूप से होने लग जायगा। फिर तो तुम छलाँग मारते हुए अपने लक्ष्य की ओर अत्यन्तवेग से चलने लग जावोगे।

कुछ लोग कहते हैं कि जब भगवान् को देखा नहीं, तब उनका रूपध्यान कैसे करें ? तथा उनसे प्रेम कैसे हो ? लोक में तो देखकर ही यह सब होता है। यह प्रश्न अत्यन्तजटिल एवं गम्भीर है, साथ ही अविवेकितापूर्ण भी है। मुझसे एक महोदय ने यही प्रश्न किया। उन्होंने कहा कि भगवान् को देखा ही नहीं, रूपध्यान कैसे करूँ ? मैंने कहा—"अच्छा यह बताओ कि तुम भगवान् के विषय में शास्त्रों द्वारा कितना समझते हो?" उन्होंने, विद्वान् होने के कारण तमाम परिभाषायें, भगवान् की कर डालीं, जिसमें एक यह भी थी, "अनन्तनामरूपाय" अर्थात् भगवान् के अनन्तस्वरूप हैं। मैंने कहा—"अच्छा, अब यह बताओ कि यदि तुम्हें भगवान् का एक ऐसा स्वरूप दिखाई पड़ जाय, जैसा कि अर्जुन को दिखाई पड़ा था। अथवा एक ऐसा स्वरूप दिखाई पड़ जाय, जो मनुष्य का तो हो, किन्तु उसमें आँख न हो, नाक कटी हो, मुंह टेढ़ा हो, एक हाथ, एक पैर से रहित हो, शरीर से कोढ़ चू रहा हो, "चौंको मत !! अभी-अभी तुमने कहा है कि भगवान् के अनन्तस्वरूप होते हैं, तथा भगवान् सभीप्रकार के स्वरूप बना सकते हैं" क्या तुम उपरोक्त विराट् अथवा विकृतस्वरूप को देख कर भगवान् के लिए पागल

हो सकते हो ?" उन्होंने कहा—"नहीं, ऐसे स्वरूप को तो देखकर भय या घृणा होगी।" मैंने कहा —"जब तुम्हारे कथनानुसार भगवान् के अनंतस्वरूप हैं, तब आखिर कौन से स्वरूप को देख कर तुमने पागल बनने को सोचा है ?" उन्होंने कहा-"मैं मनुष्यरूप चाहता हूँ।" मैंने कहा कि मनुष्य के रूप में तो यह बात होती है कि जितनी ही बार, उस मनुष्य के रूप को देखा जाय, उतनी ही बार धीरे-धीरे उसमें, आनन्दानुभव की न्यूनता होती जाती है। तात्पर्य यह कि मनुष्य का रूप, प्राकृत होने के कारण नित्य नवीनरस नहीं प्रदान कर सकता, फिर तुम्हारा लक्ष्य कैसे सिद्ध होगा ? उन्होंने कहा—"मैं भगवद्गुणविशिष्ट, चिन्मयदेहवाले, मनुष्यरूप को चाहता हूँ।" मैंने कहा—"तुमने शास्त्रों को पढ़ा है, वह चिन्मयरूप क्या इन्हीं प्राकृतआँखों से दिखाई पड़ता है ?" उन्होंने कहा-"हाँ !" मैंने कहा—"प्राकृतइन्द्रियों से यदि अप्राकृत, चिन्मयविग्रहवाले भगवान् का प्रत्यक्ष हो सकता है, तब तो, या तो तुम्हारी आंख, अप्राकृत, चिन्मय, सिद्ध होगी, या भगवान् का विग्रह ही, तुम्हारी तरह प्राकृत सिद्ध होगा। देखो, पंडित जी ! शास्त्रों का रहस्य, व्याकरण के शब्द-ज्ञान से नहीं जाना जाता। मुझे आश्चर्य है कि तुमसरीखे विद्वान् इसप्रकार की नासमझी की बातें करते हैं। देखो, यद्यपि यह तुम्हारा कहना ठीक है कि अनन्तानन्त मनुष्यों ने भगवान् को अपनी आंखों से ही देखा है, किन्तु उसमें एक विशेष रहस्य है, जिसे हम अभी बतायेंगे। अच्छा, तुम पहले यह बताओ कि जब राघवेन्द्रसरकार, अनंत-कोट-कन्दर्प-लावण्ययुक्त होकर मनुष्यरूप में,

जनक की सभा में उपस्थित थे, तब क्या समस्त दर्शकों ने राम को चिन्मयरूप से ही देखा था ? रामायणकार तो कहते हैं :—जाकी रही भावना जैसी । प्रभुमूरति देखी तिन तैसी । अब किंचित् गम्भीर विचार करो कि प्रत्येक देखनेवालों को, भगवान्राम पृथक्-पृथक् क्यों दिखाई पड़े ? इसीप्रकार श्रीकृष्णावतार में यादवेन्द्रसरकार, जब कंस की सभा में उपस्थित थे, तब क्या समस्त दर्शकों ने उन्हें भगवत्स्वरूप ही देखा था ? महापुरुष तो कहते हैं कि उससमय श्रीकृष्ण को, गोपियों ने प्रियतमरूप से, बूढ़ों ने बालकस्वरूप से, देवताओं ने सम्राट्स्वरूप से, भक्तों ने भगवत्-स्वरूप से, योगियों ने ब्रह्मस्वरूप से ही देखा था । यहाँ तक कि रावणादिकों एवं कंसादिकों ने भयानककालस्वरूप से देखा था। इसप्रकार भगवान् के अवतारकाल में भी प्रत्येक मनुष्य, भगवान् को भगवत्स्वरूप में नहीं देख पाये, अन्यथा तो भगवान् को देखते ही दर्शकों को उन्मत्त हो जाना चाहिए था, किन्तु वहां भी छलोग उदासीन पाये जाते हैं, एवं कुछलोग तो विपरीतभाव में शाश्वतभगवान् को ही मार डालने की सोचकर युद्धादि में भी प्रवृत्त होते हैं । पडित जी ! यह कुछ अटपटी सी बात है, जो शाब्दिकपंडिताई में नहीं समा सकती। इतना तो तुम मान ही गए होगे, अर्थात् यह तुम्हारीसमझ में आ ही गया होगा कि कोई भी रहस्य हो, किन्तु यह निश्चित नहीं है कि आज भी यदि हमारे समक्ष राम, कृष्ण आ जायँ, तो हम उनके चिन्मयविग्रहवाले स्व-रूप को देख ही पायेंगे। अच्छा तो, अब रहस्य सुन लो । बात यह

है कि अधिकारीभक्त को ही भगवान्, अपनी वह दिव्यशक्ति देते हैं, जिससे भक्त, दिव्यशक्तियुक्त-प्राकृतआंखों से देख लेता है। इसीप्रकार प्रत्येकइन्द्रियों से भगवद्विषय का लाभ प्राप्त कर लेता है। इसीप्रकार दिव्यशक्ति के द्वारा, मन में भी भगवान् को स्थापित कर लेता है, तथा इसीप्रकार बुद्धि से भी भगवद्रहस्यों को समझ लेता है। सारांश यह है कि किसी अवस्थाविशेष पर, अधिकारीभक्त को ही भगवान्, वह चिन्मयदृष्टि आदि देते हैं, जिससे प्राकृत इन्द्रियादिकों से भी भक्त, भगवान् से भगवल्लाभ प्राप्त कर लेता है, अन्यथा तो, पंडित जी! तुमने पढ़ा ही होगा कि भगवान्, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि से परे हैं।

अच्छा तो, पंडित जी! अब तुम समझ गये होगे कि यदि राम, कृष्ण तुम्हारे समक्ष, "जिस रूप में तुम चाहते हो" आ भी जायँ, तब भी तुम्हें अपनी अवस्था के अनुसार ही, भगवल्लाभ प्राप्त होगा। अर्थात् तुम्हें, वह चिन्मयस्वरूप दिखाई ही नहीं पड़ सकता, जब तक तुम अधिकारी न बन जावोगे। "अच्छा, अब बताओ, पंडित जी! पहिले, रूपध्यानपूर्वक साधना करके अधिकारी बनना पसन्द करोगे? अथवा पहिले, राम, कृष्ण का दर्शन करके उनमें अपनी मानवी-मायिकबुद्धि से मायिकता की कल्पना करोगे? जिसके परिणाम-स्वरूप भगवान् को भी अपनीतरह मायिक समझ कर सदा के लिए नास्तिक बन जावोगे।" पंडित जी ने कहा—"नहीं, नहीं, हम प्रथम साधना ही करेंगे, क्योंकि अभी तो यह आशा एवं विश्वास है कि भगवान् राम, कृष्ण अनन्तकोटिकन्दर्प-

लावण्ययुक्त, ब्रह्मा-शंकरादिकों को भी, अपनी रूपमाधुरी से उन्मत्त कर देने वाले, दिव्य चिन्मयविग्रहयुक्त हैं, यदि साधना-द्वारा अधिकारी बनने के पूर्व ही, दिव्यदृष्टि के अभाव में भगवान् को देख लेंगे, तो उपरोक्त आशा एवं विश्वास भी सदा के लिये निर्मूल नष्ट हो जायगा। दर्शन के पश्चात् हम सोचेंगे, "शास्त्रों, वेदों एवं महापुरुषों ने भगवद्रूपमाधुरी के विषय में बढ़ा-चढ़ा कर झूठ-मूठ को ही इतना बड़ा उपन्यास गढ़ दिया है। सब झूठे हैं।" जब अधिकारी बनने के पूर्व हम वास्तविक भगवत्स्वरूप देख ही नहीं सकते, तब उनसे प्रेम ही कैसे होगा ? यदि कहो कि प्रेम तो, गुणादिकों के द्वारा भी हो सकता है, तब तो दर्शन का प्रश्न ही नहीं उठता। जो गुण, भगवान् में शास्त्रलिखित हैं, उन्हें तुम मानते ही हो। यदि कहो कि उन गुणों का कार्य उदाहरणार्थ :—भगवान् ने गीध को गले लगाया, चाण्डाल का आलिंगन किया, आदि देखकर तो प्रेम हो जायगा, तो यह भी, बिना गीध एवं चाण्डाल की साधना-सम्बन्धी उच्चअवस्था पर पहुँचे तुम्हें नहीं प्राप्त हो सकता।

मेरी राय में तो यदि तुम, भगवान् के अवतारकालीन प्राकृत-कार्य्यों को देख लो, यथाः—सीता के लिये रोना, नागपाश में बंध जाना, आदि, तो राम को, भगवान् के बजाय बुद्धिमान्मनुष्य भी कहने में संकोच करोगे। अतएव अच्छा है कि अधिकारी बनने के पूर्व तुम, उनको एवं उनके कार्यों को न देखो। तुमने सुना नहीं ? तुलसीदास कहते हैं :—

"देखि देखि आचरन तुम्हारे, जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।"

मैं, तुम्हें एक ऐतिहासिक लौकिकप्रमाण देता हूँ, जिसको सुन-कर तुम आश्चर्य में पड़ जावोगे। तुमने सुना होगा—"नल-दमयन्ती का आख्यान" दमयन्ती, हंस के द्वारा ही राजा नल के गुणों को सुनकर ही कितनी आसक्त हो गई थी? दर्शन तो उसने भी नहीं किया था। अब ज़रा सोचो, जब लौकिक, मायिक, अल्पगुणविशिष्ट राजा नल के ही गुणों को सुनकर दमयन्ती, दीवानी हो सकती है, तब अलौकिक, अमायिक, अनन्तगुणमाधुरीयुक्त भगवान् के गुणों को सुनकर, उनके दर्शन के निमित्त दीवाना बनना क्या कठिन है? एक बात यह भी तो सोचो कि लोक में भी तुम देखते हो कि एक ग़रीब, अमीर बनने के लिये, एक "एम० ए०" पास विद्यार्थी, कलक्टर बनने के लिये, पूर्व में साधना ही करता है। यदि कोई कहे कि मैंने तो कलक्टर के सुखों को देखा है, तो उसे बिलकुल ही भोला एवं नासमझ समझना चाहिये। क्योंकि कलक्टर का सुख, देखा नहीं जाता, अनुभव किया जाता है, और वह अनुभव, सरकार द्वारा अधिकारी बनने पर ही हो सकता है। यदि भगवद्विषय में कोई यह कहता है कि मुझे साधना करने के पूर्व ही भगवदानन्दयुक्त-भगवत्प्राप्ति करा दीजिये, भगवान् को दिखा दीजिये, तो उसे सर्वप्रथम लोक में ही यह रिहर्सल करनी चाहिये। अर्थात् प्रत्येकमनुष्य को अपनी सरकार से कहना चाहिये, कि वह पहले, कलक्टर के अधिकारों से युक्त, कलक्टर का पद दे दे, हम उसके सुख का अनुभव कर लें, तभी तत्सम्बन्धीप्रयत्न करेंगे। किन्तु लोक में ऐसा कोई नहीं कहेगा,

क्योंकि वहाँ तो उसे लोग, पागल कहेंगे। बलिहारी है ऐसे प्रश्नकर्त्ताओं की बुद्धि पर !!!

कुछलोग कहते हैं—"गुरु का ध्यान करना चाहिये" यह ठीक है कि गुरु भी भगवान् का अभिन्नस्वरूप है, किन्तु श्रीकृष्णलीलाओं को गाते हुये, बाललीला आदि में भला, किसप्रकार गुरु का ध्यान काम देगा ? तथा गुरु के प्राकृतदेह में भला, साधक की कितनी भाववृद्धि हो सकेगी ? यदि वह गुरु के प्राकृतदेह को ध्यान-द्वारा चिन्मयदेह के रूप में परिवर्तित करता है, तो भी कितनी कठिनता होगी ? साथ ही एक बात और भी है कि गुणातीत होने के पूर्व साधक के हृदय में कभी कभी गुरु के प्रति भी लौकिकभाव आ जाया करता है, इससे भी रूपध्यान-साधना में बाधा होगी। साधक को तो अनन्तकोटिकन्दर्पलावण्ययुक्त-चिन्मयदेहधारी, मदन-मोहन, राधारमण, आनन्दकन्द, श्रीकृष्णचन्द्र का ही रूपध्यान अधिकआकर्षक हो सकेगा। स्मरण रहे, भक्त, एवं भगवान् में भेद न होते हुये भी यह सूक्ष्म भेद है कि भक्त, भगवान् नहीं बन सकता, किन्तु भगवान्, भक्त बनसकता है। जैसे "गौरांगमहाप्रभु श्री चैतन्यदेवनिमाई।" गौरांगमहाप्रभु को छोड़कर जीवकोटि से महापुरुषपद प्राप्त करने वाले, भगवान् नहीं बन सकते। हाँ, यदि गौरांगमहाप्रभु के अतिरिक्त भी कभी फिर ऐसा कोई अव-तार हो, तब तो वह भी भक्त होते हुये भी, वास्तव में भगवान् ही है। लोक में आजकल भी कुछ दम्भी, अपनेआपको, श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसा सुना जाता है। ऐसा कहने वाले एवं सुनने वाले दोनों

का ही सर्वनाश ध्रुवसत्य है। हां, यदि वे वास्तव में ही महापुरुष हैं, तब तो ऐसा कह ही नहीं सकते। महापुरुष तो अपनेआपको, सदा ही अकिंचन कहते हैं, यहाँ तक कि राधावतार, श्रीगौरांग-महाप्रभु भी, अपने ही शरणागत-साधकों के चरणों को पकड़कर रो रो कर कहते थे कि मुझे श्रीकृष्णप्रेम दे दो। यह है भगवान् की भगवत्ता, एवं महापुरुषों की महानता।

कुछ भावुकमातायें एवं बहिनें, बड़ी जल्दी ही भावुकता में आकर किसी भी दम्भी अथवा महात्मा को श्रीकृष्णावतार कहकर पुकारने लगती हैं, और तदनुकूल व्यवहार करने लगती हैं। यह सबसे बड़ी भूल है। श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण ही हैं। महापुरुष, महापुरुष ही हैं। दम्भी, दम्भी ही है। यद्यपि महापुरुष का माहात्म्य, श्रीकृष्ण से भी अधिक है, किन्तु महापुरुष को, श्रीकृष्ण मानकर उपासना करना ठीक नहीं। वह गुरु है, गुरु का रूपध्यान, श्रीकृष्ण के साथ कर सकते हो, करना भी चाहिये, क्योंकि यदि गुरु का रूपध्यान सदा ध्यान में न रखोगे, तो भी उच्छृंखल हो जावोगे, किन्तु श्रीकृष्ण-लीलादि गाने में गुरु का ध्यान सर्वसाधारण-साधकों के लिये उपयुक्त न हो सकेगा। हां, यदि कोई साधक गुरु के प्राकृतदेह एवं व्यवहारों में भी सदा एकरस दिव्यचिन्मयभाव रख सकता है, तो उससे गुरु ही के रूपध्यान में कोई हानि नहीं, वरन्, महान् लाभ ही है, क्योंकि जब हम, जड़पत्थर में भगवान् का अध्याहार करके ध्यान कर सकते हैं, तब जिसके हृदय में नित्य श्रीकृष्ण का निवास है, ऐसे श्रीकृष्ण से अभिन्नभक्तों का रूपध्यान करने में हानि ही

क्या हो सकती है ? इतिहास तो यहां तक कहता है कि दम्भी में भी शुद्ध-भगवद्भाव रखने से भगवत्कृपा-द्वारा साधक को, भगवल्लाभ ही प्राप्त होता है, किन्तु यह नियम, सर्वसाधारण के लिये नहीं है।

सिद्धान्ततः भगवान्, महापुरुष एवं गुरु तीनों ही परस्पर अभिन्न-एकतत्त्व हैं, तथापि कार्य के दृष्टिकोण से भगवान् से अधिक महापुरुष, महापुरुष से अधिक गुरु, महत्त्वपूर्ण है। उपासना के दृष्टिकोण से भी भगवान् की ही उक्ति के अनुसार, भगवान्, महापुरुष एवं गुरु उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण हैं। यह मैंने पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है। भगवान् कहते हैं। "जो मेरे भक्त का भक्त है, वही मेरा सच्चाभक्त है" यद्यपि बात ऐसी ही है, तथापि मेरा अभिप्राय, केवल रूपध्यान, के ही विषय में है। जहाँ तक हो सके, ऐसी साधना, अपनानी चाहिए, जिससे लक्ष्यप्राप्ति में शीघ्रता और सुगमता हो। ऐसे पूर्वोक्तशरणागति के छहों अंगों से युक्त शिष्य, इनेगिने ही होते हैं, जिनकी, गुरु के प्रति लौकिकभावना नहीं उत्पन्न होती है। अर्थात् पूर्णशरणागति के पूर्व, सद्गुरु में भगवद्भाव, एकरस स्थिर नहीं रह पाता। एक बात और भी है, जो लोग दम्भियों को महापुरुष मान बैठे हैं, उनके लिए भी सब प्रकार से श्रीकृष्णरूपध्यान, ही श्रेयष्कर है, वास्तव में तो गुरु के प्रति, नित्यभगवद्भाव उसी का रह सकता है, जिसे गुरु के द्वारा कुछ भगवद्विषयक अनुभव प्राप्त हो गया हो, मैंने विख्यात, धुरन्धर, अनुभवशून्य, विद्वानों को देखा है कि वे रामकृष्ण की बुद्धिअतीतलीलाओं में ही त्रुटियाँ निकालने लगते हैं, तब फिर भला, अल्पज्ञ, तीनोंगुणों के झकोरों

में भूलने वाले मायिकजीव, महापुरुष के प्रति नित्यभगवद्भाव, किसप्रकार रख सकते हैं ?

मेरी राय में तो महापुरुषों के प्रति दिव्यभाव एक-मात्र उनकी कृपा से ही स्थिर रह सकता है, बेचारे जीव की क्या सामर्थ्य है ? अतएव सर्वसाधारण को श्रीकृष्ण का ही रूपध्यान करना चाहिए। सेवा, शरणागति आदि, दास्यधर्म, सद्गुरु के ही प्रति रखना चाहिए।

एक विशेष बात और भी है। वह यह कि जब तक साधकों के समक्ष, अर्थात् साधकों के जीवन में ही, महापुरुष, संसार में रहते हैं, तब तक लोग, महापुरुष में बहुधा प्राकृतभाव रखते हैं। महापुरुष के गोलोकप्रयाण के पश्चात्, साधारणमनुष्य भी उन्हें महापुरुष मान लेते है। इतिहास साक्षी है कि तुलसी, सूर, कबीर जो आज, जन-साधारण के लिए महापुरुष बन गये हैं, वे अपने जीवनकाल में इनेगिने शरणागतशिष्यों के दृष्टिकोण में ही महापुरुष थे। इसी-प्रकार गौरांगमहाप्रभु एवं राम, कृष्ण अवतारों में भी समझ लेना चाहिए। जितनी ही बड़ी शक्ति, लोक में अवतीर्ण होगी, उतनी ही कठिनता उसके पहिचानने में होगी, आज तो तत्त्वज्ञान के बिना ही, एक ग्रामीण मूर्ख भी, रामकृष्णादिकों को भगवान् एवं तुलसी, सूर मीरादिकों को महापुरुष माने बैठा है। सारांश यह कि महापुरुष एवं भगवान् के गोलोकप्रयाण के पश्चात् ही उन्हें, लोग, महा-पुरुष एवं भगवान् मानते हैं, उनके समक्ष तो देहाभिमान के कारण बुद्धिवाद में पड़कर मनुष्य, पाप ही कमाते हैं। यही तो बस बात है,

जो अनादिकाल से आजतक जीवों को महापुरु। की कृपा से वंचित कर रही है।

अतएव साधारणसाधकों के लिये, श्रीकृष्ण का रूपध्यान ही विशेषलाभप्रद है, विशेषसाधकों के लिए उपरोक्तनियम अनिवार्य नहीं है। जिसका, जिसप्रकार भाव बढ़े, वैसा ही करे। समस्त साधकों के लिए एक ही नियम लागू नहीं होता।

इसप्रकार मोक्षपर्य्यन्त की कामनाओं को छोड़कर, ज्ञान-कर्मादि-आवरणों से पृथक् होकर, कान्तभाव से श्रीकृष्ण की उपासना करनी चाहिए। दीनता, एवं राधाकृष्ण का रूपध्यान, प्रतिक्षण साथ रखना चाहिए, तभी साधना में शीघ्र लाभ होगा।

एक अत्यन्त विचारणीय बात यह है कि जीव, कितनी ही साधना क्यों न करे, कुसंग एवं नामापराध, उस को एकक्षण में नष्ट कर देता है। अतएव इन दोनों खतरों से सावधान रहना चाहिए। मैंने पूर्व में ही कुसंग एवं नामापराध के प्रकरण में यह सब स्पष्ट कर दिया है, उसे भलीभाँति पढ़ लेना। केवल एक बात प्रमुखतया ध्यान में रखना है, वह यह कि हरि, हरिजनसम्बन्धी-अनुकूलता ही सत्संग है। अर्थात् जिस प्रकार से भी राधाकृष्ण में निष्कामभावयुक्त, मन-बुद्धि का लगाव हो, वही करना चाहिए, शेष सब कुसंग है।

कुछ लोग कहते हैं कि भक्ति का वर्णन वेदों में है ही नहीं। बेचारे वेद, अनादिकाल से भगवान् की स्तुति करते करते मरे जा रहे हैं, फिर भी लोगों के दृष्टिकोण में वेदों में भगवद्भक्ति का

वर्णन ही नहीं है। कदाचित् वे लोग, वेदों के नाममात्र से ही परिचित हैं, अन्यथा "अनादिभक्तस्वरूप वेदों को, जिनका एकमात्र कार्य ही यही है कि जीवों को भगवान् की महिमा सुना सुना कर भगवान् तक पहुँचाना" भक्तिरहित न बताते। अस्तु, अब हम वेद में लिखित, नवधाभक्ति का वर्णन करते हैं :—

वेदों में नवधा भक्ति :—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोरर्चनं पादसेवनम्

स्मरणं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्"

श्रवणभक्ति—"सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत्" (ऋ० १-१५६-२)

"आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" (ब्रह्मसूत्र ४-४-१)

कीर्तनभक्ति—"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्" (ऋ० १-१५४-१)

"तमुस्तोतारः पूर्व्यंयथाविद

ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन

आस्य जानंतो नामचिद्विवक्तन" (ऋ० १- १५६-३)

"महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे

वर्धंतु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे" (ऋ० ७-१००-४)

"तं त्वा गृणामि तव समतव्यान्" (ऋ० ७-१००-५)

स्मरणभक्ति—"प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म" (ऋ० १-१५४-३)

पादसेवनभक्ति—"यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया" मदंति" (ऋ० १-१५४-४)

अर्चनभक्ति—"महे शूराय चार्चत" (ऋ० १-५५-१)

वंदनभक्ति—"नमो रुचाय ब्राह्मये" (यजुर्वेद ३१-२०)

दास्यभक्ति—"महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे" (ऋ० १-१५६-३)

सख्यभक्ति—"स हि वन्धुरित्था" (ऋ० १-१५४-५)

"भवा मित्रो न शेव्यः (ऋ० १-१५६-१)"

आत्मनिवेदनभक्ति—"यः पूर्वाय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति" (ऋ० १-१५६-३)

श्रवणद्वारा परीक्षित, कीर्तनद्वारा शुकदेव, स्मरणद्वारा प्रह्लाद, पादसेवनद्वारा लक्ष्मी, अर्चनद्वारा पृथु, वंदनद्वारा अक्रूर, दास्यद्वारा हनुमान्, सख्यद्वारा अर्जुन, आत्मनिवेदन-द्वारा बलि आदि महापुरुष हुये।

कुछलोग कहते हैं कि नाममाहात्म्य तो स्तुतिमात्र है, ऐसे लोग सिद्धान्ततः नामापराध के भागी होते हैं। लौकिकनाम एवं भगवन्नाम में अनन्तगुना भेद है। भगवन्नाम में भगवच्छक्ति का पूर्णनिवास होता है। नाम एवं नामी, औपाधिकरूप से ही, दो भासित होते हैं, वस्तुतः नाम एवं नामी परस्पर एक हैं। इसीप्रकार नाम, गुण, लीला, धाम, जन, सभी को परस्पर एकही समझना चाहिये। यह करुणावरुणालयभगवान् की अकारणकरुणा है, जो उन्होंने अपने नामों में ही अपनी सम्पूर्णशक्तियों को निहित कर दिया है। भगवान् ने सोचा कि मेरे अभाव में बेचारे जीव क्या करेंगे? अतएव उन्होंने अपने नामों को अपनी समस्तशक्तियों से युक्त कर दिया। गौरांगमहाप्रभु श्रीचैतन्यदेव ने अपने शिक्षाष्टक में एकश्लोक लिखा है :—

"नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति—
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि,
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः"

अर्थात् हे अकारणकरुण श्रीकृष्ण ! आपने, अपनेनाम में अपनी समस्तदिव्यअन्तरंगशक्तियों को रख दिया है, फिर भी मैं, आपकी इस अकारणकृपा का लाभ नहीं ले पा रहा हूँ. अतएव आपके नाम में मेरे मन का अनुराग नहीं हो पा रहा है। जितनी बड़ी आपकी कृपा है, उतना ही बड़ा मेरा दुर्भाग्य भी है। देखो, दुर्भाग्यशब्द का अर्थ, कुसंस्कार नहीं है, यहाँ दुर्भाग्यशब्द का प्रयोग केवल नामापराध से ही सम्बन्धित है। अथात् नामापराध ही समस्तशक्तिविशिष्ट नाम में अनुराग नहीं होने देता।

कुछलोग कहते हैं कि नामजप तो ठीक है, किन्तु नामसंकीर्तन में तमाम शोरगुल करने से क्या लाभ ? मन में ही कर लेना चाहिये। यह उनकी भ्रान्तबुद्धि का परिचय है। नामसंकीर्तन एवं नाम-जप में करोड़ोंगुना अन्तर होता है, जिसे पूर्णतया अनुभवी ही समझते हैं, कुछ दिग्दर्शनमात्र हम भी करा देते हैं।

जब नामजप करने बैठते हो, तब तुम्हारा मन, इधरउधर भागता है। कोई खटपट की किंचिन्मात्र भी आवाज होती है, तो मनबुद्धि वहाँ पहुँचकर, अपना सांसारिककार्य प्रारम्भ कर देते हैं। तुम किसीप्रकार वहाँ से हटा कर लाते हो, किन्तु जहाँ फिर कहीं खटपट हुआ, तहाँ मन फिर वहीं चला गया। भला बताओ, जब

मानूंगा। तात्पर्य यह कि नामसंकीर्तन में अनुकूलभाववालों के अतिरिक्त, प्रतिकूलभाववालों को भी निश्चितरूप से लाभ होता है, क्योंकि, नाम में नामी की शक्ति भी तो रहती है।

नामजप में केवल अपनी ही आत्मशक्ति का परमाणु, वातावरण बनाने में सहायक होता है। शुद्धवायुमण्डल में ही साधक का मन, विशेष लगता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

किन्तु नामसंकीर्तन में सभी साधकों की आत्मशक्ति के परमाणुओं से अत्यन्तविशुद्ध वातावरण बन जाता है, जिसका प्रभाव, सभीसाधकों पर पड़ता है। सब की शक्ति मिलकर, सबको लाभप्रदान करती है। यह आधुनिकविज्ञान एवं आध्यात्मिक-विज्ञान, दोनों से ही सर्वथा सिद्ध है कि सुन्दरवातावरण ही साधक की साधना में सहायक बन कर उसे आगे बढ़ाता जाता है।

नामजप में परोपकार नहीं हो सकता, वहां तो एकमात्र नामजप करने वाले का ही लाभ होता है।

किन्तु नामसंकीर्तन में तो सभी मनुष्य आकर लाभ लेते हैं। जो दुराग्रहवश नहीं आते, दूर से ही सुनते हैं, उनका भी लाभ, भगवन्नामश्रवणमात्र से होता है। भगवन्नाम की शक्ति, सूक्ष्मरूप से उनके अन्दर पहुँच कर अपना काम करती है, एवं धीरे धीरे उस व्यक्ति को भी, नामदास बना देती है। इतना ही नहीं, सूक्ष्म-दर्शी, महापुरुष तो कहते हैं कि पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि भी भगवन्नाम श्रवणमात्र से मुक्त हो जाते हैं। जब साधकों के नाम-

संकीर्तन को सुनकर ही कीट, पतंग तक तर जाते हैं, तब भला साधकों के लिए प्रश्न ही क्या उठता है? श्रीगौरांगमहाप्रभु कहते हैं :—

पशु, पत्ती, कीट आदि बोली ते ना पारे,
शुनी लेई होरी नाम तारा सब तरे
जपीले ते हरि नाम आपनी ते तरे
उच्च संकीर्तने पर उपकार करे ॥

नामजप में लीलादिकों का यथोचित जप नहीं हो सकता। प्रधानतया नामजप ही होता है, अतएव साधक का मन, थक जाता है। जिसके परिणाम-स्वरूप वह ऊब कर साधना बन्द कर देता है।

किन्तु नामसंकीर्तन में नाम के अतिरिक्त गुण, लीला इत्यादि समस्तविषयों का समावेश होता है, भगवान् की विविध-लीला एवं विविध-गुणादि गाये जाते हैं, साधक कभी थक ही नहीं सकता। उसे नित्यनवीनवस्तुयें मन लगाने को मिलती रहती हैं, नाम में थका, तो गुण में लगाया। गुण में थका, तो लीलाओं में लगाया। इसीप्रकार अनन्त गुण, लीलाओं में लगाते चले गए, कभी थकावट का नाम भी नहीं आता। यह एक साधारणसाधक के लिये व्यक्तिगत-विशेषलाभ की बात है। अरे भाई! साधक को तो, जिसमें ही सुभीता मिलेगा, वही करेगा। इसीलिये तो कलियुग के गिरे हुए धन-पुत्रादि-मदों में मदोन्मत्तसाधकों के लिए महापुरुषों ने एकमात्र संकीर्तन ही बताया है। वे त्रिकालज्ञ, महापुरुष जानते थे कि मनुष्यों का मन, किंचित् भी वश

में नहीं रहेगा, वे अन्य साधनायें नहीं कर सकेंगे, अतएव उनके लिए संकीर्तन ही सर्वसुगम एवं सर्वश्रेष्ठ उपाय है। भागवत कहती है :—

"कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् (शुकदेव भा० १२-३-५१)

अर्थात् यद्यपि कलियुग, दोषों का भण्डार है, फिर भी हे परीक्षित ! उसमें एक महान् गुण भी है। गुण यह है कि जीव, भगवन्नामादि-संकीर्तन के द्वारा ही संसार के बन्धनों से छूटकर श्रीकृष्णप्राप्ति कर लेता है। रामायणकार भी कहते हैं :—

कलियुग सम युग आन नहिं, जो नर कर विश्वास।
गाइ राम गुन गन विमल, भव तर विनहिं प्रयास ॥

तथा—कलियुग योग यज्ञ नहिं ज्ञाना। एक अधार राम गुण गाना ॥
तथा—येहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग यज्ञ जप तप व्रत पूजा ॥
रामहिं सुमिरिय गाइय रामहिं। सन्तत सुनिय रामगुन ग्रामहि ॥
तथा—चहुँ युग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि विशेष नहिं आन उपाऊ ॥
तथा—कलि नहिं धर्म न भक्ति, विवेकू। राम नाम अवलम्बन एकू ॥

अपरंच :—

"हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा"

कलियुग में जीव के कल्याण के लिए भगवन्नाम ही साधन है, भगवन्नाम ही साधन है, भगवन्नाम ही साधन है, अन्य कोई उपाय नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अतएव यह नामसंकीर्तन, नामजप से भी अत्यन्तशीघ्र ही लाभ पहुँचाने वाला है। यद्यपि तत्वतः दोनों ही साधनायें परस्पर एक है, फिर भी लाभ के दृष्टिकोण से संकीर्तन-साधना श्रेष्ठतर है। हम लोग तो स्वार्थी हैं, जहां भी अधिक एवं शीघ्रातिशीघ्र लाभ होगा, वहीं जायँगे, फिर जब, जप एवं संकीर्तन परस्पर एक ही तत्व हैं. तब हम कठिन एवं देर में सिद्ध होने वाली साधना में क्यों पड़ें? कौन बुद्धिमान् चाहेगा? कि यदि घर के कोने में शहद मिल जाय, तो जंगल में ढूँढ़ने जाय !!

यह स्मरण रहे कि भगवन्नाम, गुण, लीला, धाम एवं उनके जनों के अनन्तस्वरूप सभी, परस्पर एकतत्व हैं, तथा सभी में भगवदीयशक्तियों का पूर्णनिवास है। भूल कर भी छोटाबड़ा कहना अथवा समझना, नामापराध है, यहां तक कि शिवादि नामों को भी श्रीकृष्ण के नामादि से छोटा कहना नामापराध है। पुराणों एवं संहितादिकों में कलिमलग्रसित जीवों के निमित्त नामसंकीर्तन ही एकमात्र साधन बताया गया है। मैं सकीर्तन-संबंधी कुछ प्रमाण नीचे उद्धृत करता हूँ :—

शौनकादिक कहते हैं :—

"आपन्नःसंसृतिंघोरां यन्नाम विवशो गृणन्
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्" (भा० १-१-१४)

अर्थात् भवबन्धन में बँधा हुआ आर्त्त जीव, यदि विवश होकर भी भगवन्नाम ले लेता है, तब भी भवबन्धन से छूट

जाता है। भगवन्नाम से साक्षात् भय (यमराज) भी भयभीत होता है।

श्री शुकदेव जी कहते हैं :—

"म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्
अजामिलोप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्" (भा० ६-२-४९)

अर्थात् जब मृत्युकाल में पुत्र के बहाने से नारायण नाम लेने पर अजामिल, मुक्त होकर भगवद्धाम पहुँच गया, तब श्रद्धा-युक्त होकर भगवन्नाम लेने वालों के विषय में कहना ही क्या है !!!

श्री शुकदेव जी महराज कहते हैं :—

"एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम्
योगिनां नृप ! निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्" (भा० २-१-११)

अर्थात् भगवन्नाम, जीव को तत्क्षण ही मुक्त कर देता है, उसे काल, कर्म, स्वभाव आदि किसी का भी भय नहीं रहता।

माता श्रीदेवहूति कहती हैं :—

"अहो वतश्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणंति ये ते"
(भा० ३-३३-७)

अर्थात् जिसकी जिह्वा पर भगवान् का मंगलमयनाम रहता है, वह चाण्डाल भी सर्वश्रेष्ठ है, वह सम्पूर्णतपश्चर्याओं को कर चुका, वह समस्तयज्ञ को भी कर चुका, वह समस्त-तीर्थों का अवगाहन भी कर चुका, एवं वह समस्तवेदों का

विधिवत् अध्ययन भी कर चुका।

श्री शुकदेव जी कहते हैं :—

"यन्नामश्रुतमनुकीर्तयेद मा
दार्तो वा यदि पतितः भनाद्वा
हंत्यंहः सपदि नृणामशेषमन्यं
कं शेषाद्भगवत आश्रयेन्मुमुक्षुः" (भा० -२५-११)

अर्थात् जब भगवन्नामश्रवण अथवा कीर्तन में इतनी शक्ति है कि वह दुःखी के लेने पर, गिरते हुए भी लेने पर, एवं परिहास में भी लेने पर, मनुष्यों के समस्तपाप भस्म कर देता है, तब ऐसे भगवन्नाम को छोड़ कर, मुक्ति चाहने वाला, अन्य किसका अवलम्बन ले ? विष्णुदूत, यमदूतों से कहते हैं :—

"सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः,, (भा० ६-२-१४)

अर्थात् संकेत से, परिहास से, गायन के दृष्टिकोण से, अथवा अपमान से भी भगवन्नाम लेने से मनुष्य के समस्तपाप भस्म हो जाते हैं।

श्री विष्णुदूत कहते हैं :—

"अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्
संकीर्तितमघं पुंसां दहेदेधो यथानलः" (भा० ६-२-१८)

अर्थात् जान में अथवा अनजान में, किसी भी प्रकार से किया हुआ भगवन्नामसंकीर्तन, मनुष्यों के पाप, उसीप्रकार भस्म कर देता है, जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि, लकड़ी को।

पुनः विष्णुदूत कहते हैं :—

"स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः
स्त्रीपितृराजगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषयामतिः" (भा० ६-२-६,१०)

अर्थात् चोरी करने वाला, शराब पीने वाला, मित्र से विश्वास-घात करने वाला, ब्रह्महत्या करने वाला, गुरुपत्नी-गमन करने वाला, स्त्रीहत्या करने वाला, राजा की हत्या करने वाला, पिता की हत्या करने वाला, गोहत्या करने वाला, इत्यादि पापियों के अतिरिक्त भी जितने पापी हो, सकते हों, उन समस्तपापियों के पापों के नाश के लिये एकमात्र भगवन्नाम-संकीर्तन ही पर्याप्त प्रायश्चित्त है।

"यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया
अजानतोऽप्यात्मगुणं कुर्यान्मंत्रोऽप्युदाहृतः" (भा० ६-२-१६)

अर्थात् जिसप्रकार किसी भी औषधि के वीर्य, गुणादि जानने, अथवा न जानने पर भी, औषध सेवन करने पर, औषधि, अपनागुण दिखाती ही है, उसीप्रकार जान, अनजान किसी भी अवस्था में लिया हुआ भगवन्नाम, भगवद्गुणविशिष्ट होने के कारण भगवत्-स्वरूप ही प्रदान करता है।

ऋषिगण कहते हैं :—

"ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाचार्यहाघवान्
श्वादः पुष्कलशो वापि शुद्ध्येरन्यस्य कीर्तनात्" (भा० ६-१३-८)

अर्थात् ब्रह्महत्या करने वाला, पिता की हत्या करने वाला, गौ की हत्या करने वाला, गुरु की हत्या करने वाला, कुत्ता खाने वाला, चाण्डाल आदि भी भगवन्नामसंकीर्तन से शुद्ध हो जाता है।

श्री योगीश्वर करभाजन जी कहते है :—

"कलिं सभाजयंत्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः

यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते" (भा० ११-५-३६)

अर्थात् तत्ववेत्ता-गुणग्राहक-बुद्धिमान्जन कलियुग की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, क्योंकि कलियुग में भगवन्नाम-संकीर्तन से ही सबकुछ मिल जाता है।

श्री शुकदेव जी महराज कहते हैं :—

"यदुत्तमश्लोकगुणानुवादः

संगीयतेऽभीक्ष्णममंगलघ्नः

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं

कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः (भा० १२-३-१५)

अर्थात श्रीकृष्ण की भक्ति चाहने वाले, श्रीकृष्ण के मंगलमय नाम, गुण, लीलादिकों का संकीर्तन करें।

गर्गसंहिता कहती है :—

"श्रीकृष्णकृष्णेति गिरो वदंत्यः

श्रीकृष्णपादांबुजलग्नमानसाः

श्रीकृष्णरूपास्तु वभूवुरंगना-

श्चित्रं न पेशस्कृतमेत्य कीटवत्" (गर्गसंहिता)

अर्थात् "श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण" इसप्रकार भगवन्नाम को गाते हुए, श्रीकृष्ण के चरणों में मन लगाकर गोपियाँ श्रीकृष्णस्वरूप हो गईं, जिसप्रकार भृङ्गीकीड़ा तद्रूप हो जाता है।

वैशम्पायन संहिता कहती है :—

"सर्वधर्मवहिर्भूतः सर्वपापरतस्तथा
मुच्यते नात्र संदेहो बिष्णोर्नामानुकीर्तनात्" (वैशम्पायनसंहिता)

अर्थात् समस्तधर्मों से भ्रष्ट, समस्तपापों से युक्त, निस्संदेह भगवन्नामसंकीर्तन से मुक्त हो जाता है।

अध्यात्मरामायण कहती है :—

"अविकारी वा विकारी वा सर्वदोषैकभाजनः
परमेशपदं याति रामनामानुकीर्तनात्" (अध्यात्मरामायण)

अर्थात् वह विकारयुक्त हो, अथवा शुद्धान्तःकरणयुक्त हो, अथवा समस्तअवगुणों का भन्डार हो, किन्तु रामनामसंकीर्तन से वह भी भगवद्धाम को प्राप्त होता है।

गरुड़पुराण कहता है :—

"हरेर्नाम्निश्च या शक्तिः पापनिर्हरणे द्विज !
तावत्कर्तुं समर्थो न पातकं पातकी नरः" (गरुड़ पुराण)

अर्थात् भगवन्नाम में जितनीशक्ति, पापों के नष्ट करने की है, उतनीशक्ति, पापी के पाप करने की नहीं है।

पुनः गरुड़पुराण कहता है :—

"पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः
गोविंदनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभिः" (गरुड़ पुराण)

अर्थात हे मनुष्यो! धधकती हुई पाप की अग्निज्वाला से मत डरो, क्योंकि उस आग को बुझाने के लिए गोविन्दनाम-रूपी बादलों का झुंड है।

पद्मपुराण कहता है :—

"नान्यत्पश्यामि जन्तूनां विहाय हरिकीतनम्
सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तम" (पद्मपुराण)

अर्थात् हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! जीवों के समस्तपापों के प्रायश्चित्त के लिये भगवन्नाम-संकीर्तन के सिवाय कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं है।

सारांश यह :—

"मधुरमधुरमेतन्मंगलं मंगलानां सकलनिगमबल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर! नरमात्रं तारयेत्कृष्णनाम"

अर्थात् मधुर से भी अधिकमधुर, मंगल से भी अधिक मंगलप्रद, एकबार का भी लिया हुआ श्रीकृष्णनाम, जीवों को मुक्ति प्रदान कर देता है। यह श्रीकृष्णनाम, वेदरूपी वृक्ष का फलस्वरूप है, एवं चिन्मय है।

कहाँ तक कहा जाय, समस्तमहापुरुषवाणी, एकस्वर से भगवन्नाम, लीला, गुणादि की ही भूरि भूरि प्रशंसा कर रही है। महापुरुष तो कहते हैं कि योग, यज्ञ, दानादि किसी भी कर्म से भगवन्नाम की तुलना करना भी नामापराध है। वे कहते हैं :—

गोकोटिदानं ग्रहणेषु काशी प्रयागगंगायुतकल्पवासः
यज्ञागतं मेरुसुवर्णदानं गोविन्दनाम्ना न कदापि तुल्यम्

अर्थात् तराजू के एक पलड़े में चन्द्रग्रहण के समय, काशी में किये हुए करोड़ोंगोदान का फल रख दीजिये, उसी पलड़े में लाखोंकल्पों तक के प्रयाग में किए हुए कल्पवास के पुण्य को भी रख दीजिये, एवं उसी पलड़े में विधिवत् सम्पादितयज्ञ में दान किए हुए सुवर्ण के सुमेरुपर्वत के भी पुण्य को रख दीजिये, तत्पश्चात् एकबार के लिए हुए गोविन्दनाम के पुण्यफल को, दूसरे पलड़े में रख दीजिये, उपरोक्त तीनोंपुण्य मिलकर भी भगवन्नाम के पुण्य के फल की समानता करने में असमर्थ हैं।

अतएव कलियुग में एकमात्र नामसंकीर्तन की ही साधना निर्धारित की गई है। यदि यह भी मानलें कि कलियुग में अन्यसाधनों से भगवत्प्राप्ति हो सकती है, तब भी विचारणीय हो जाता है कि इतनी अमूल्य, सरल एवं शीघ्र फल-प्रदान करने वाली संकीर्तनसाधना को छोड़कर क्लिष्ट अन्यसाधनाओं में प्रवृत्त होने में बुद्धिमत्ता ही क्या है ?

देखो, यह कलियुग, अत्यन्त ही निकृष्टयुग है। इस युग में मनुष्यों की कुप्रवृत्तियाँ, महान् बलवान् हो जाती हैं। अतएव भगवान् ने इसयुग के लिए सरलनियम बना दिया है:—

"कृते द्वादशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्
द्वापरे तच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ"

अर्थात् जो साधना का फल, सतयुग में (१२) बारहवर्ष में मिलता था, वही त्रेतायुग में एक वर्ष में, वही द्वापरयुग में एक मास में, एवं वही कलियुग में एक ही दिनरात में प्राप्त हो जाता है। अब

सोचिये, कितनी दया है जीवों के प्रति भगवान् की !!!

यह सब होते हुए भी यह ध्यान में रखना है कि दीनता, रूप-ध्यान आदि को, सदा साथ रखा जाय। मोक्ष तक की इच्छाओं को, विषवत् त्याग दिया जाय। भक्ति की साधना में ज्ञान-कर्मादि का आवरण न लाया जाय, एवं अनुकूल कान्त-भाव से ही श्रीकृष्ण की उपासना की जाय, तभी शीघ्रातिशीघ्र लाभ हो सकेगा। अन्यथा इस कराल-कलिकाल में अतिप्रबल-मानसिककुप्रवृत्तियाँ एवं घोर बहिरंगकुसंग, जीव को हठात् अपनी ओर खींच कर, पतन के गहरे गर्त्त में पटक देंगी, एवं उसकी शास्त्रीय आप्त-वाणी से भी विश्वास हट जायगा। वह कहेगा "हमने तो बहुत नामसंकीर्तन किया, किन्तु वासनाओं का अत्यन्ताभाव न हुआ। "अतएव नाममाहात्म्य, स्तुतिमात्र ही है" जिसका परिणाम, विधान के अनुसार नामापराध-स्वरूप ही होगा।

भक्ति से मुक्ति :—

कुछ लोग कहते हैं कि भक्ति से मुक्ति कैसे होगी? क्योंकि मुक्ति तो, एकमात्र ज्ञान से ही होती है। यथाः—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" तथा "ज्ञानादेव हि कैवल्यम्।" भक्ति में, मुक्तिदान की सामर्थ्य ही कहाँ है? फिर जब मुक्ति ही न प्राप्त होगी, तब भक्ति को ही लेकर क्या करेंगे? जब आवागमन का रोग ही न समाप्त होगा, कर्मबन्धनों का अत्यन्ताभाव ही न होगा, तब ऐसी मधुरातिमधुर भक्ति से भी क्या लाभ? यह तो वैसी ही बात हुई, जैसे :—"किसी को जेल में रख कर अच्छा अच्छा खाना दिया जाय।" किन्तु ऐसा कहने वाले कदाचित् शास्त्रादिकों से सर्वथा अपरिचित हैं। उन्हें जान लेना चाहिये कि शास्त्र कहते हैं। जैसे गीता :—

"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः"

"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" (गीता १८-५५)

अर्थात् भक्ति के द्वारा मेरा भक्त, वास्तविकतत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है। मैं अपने भक्त को वह ज्ञान, प्रदान करता हूँ, जिससे वह मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जाता है। पुनः गीता कहती है :—

"कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति" (गीता ७-३१)

अर्थात् हे अर्जुन ! तू निश्चित समझ कि मेरे भक्त को किसी प्रकार का कर्मबन्धन, स्पर्श तक नहीं कर सकता, मेरे भक्त का पतन हो ही नहीं सकता। क्योंकि मेरे ही बचनानुसार :—

"अनन्यांश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"

अर्थात् जो अनन्यभाव से मेरा चिन्तन करता हुआ, मेरी उपासना करता है, उस नित्य-अभियुक्त (मन लगाये हुए) भक्त का योगक्षेम (अप्राप्त को देना एवं प्राप्त की रक्षा करना) मैं स्वयं बहन करता हूँ। पुनः गीता कहती है :—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः (गीता १८-६६)

अर्थात् जो समस्तधर्मों का परित्याग करके एकमात्र मेरी ही शरण हो जाता है, मैं उसे समस्तपापों से मुक्त करके मुक्त कर देता हूँ। हे अर्जुन ! तू इसकी चिन्ता न कर। भागवत कहती है :—

"वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्" (भा० १-२-७)

अर्थात् श्रीकृष्ण की भक्ति ही, वैराग्य एवं निष्कामज्ञान की जननी है। सारांश यह कि भक्तिमार्ग के ही, ज्ञान, वैराग्य आनुषंगिक फल हैं।

फिर भागवत कहती है :—

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्" (भागवत)

अर्थात् किसी भी सांसारिक अथवा स्वर्गीय अथवा मोक्ष की कामनापूर्ति एवं निष्कामप्रेम की प्राप्ति, भक्ति द्वारा ही होजाती है। इसी से तो पुनः भागवत कहती है :—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्"

(भागवत)

अर्थात् निष्कामभावयुक्त-ज्ञान भी श्रीकृष्णभक्ति के बिना शोभित नहीं होता, सारांश यह कि भक्ति के आधीन ही, ज्ञान, विज्ञान, मुक्ति आदि हैं। तुलसीदास जी के शब्दों में :—"तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना। तथा—भक्ति करत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवत बरिआई॥

यहाँ तक कि ज्ञान की परिणाम-स्वरूपा मुक्ति को प्रदान करने वाला भगवान् भी, जिस भक्ति के आधीन रहता है, उस भक्ति से मुक्ति न पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब मुक्ति का स्वामी ही, भक्तों की भक्ति की शक्ति से भक्त की दासता करता है, तब उस मुक्ति के स्वामी भगवान् के भी आधीन-शक्ति-स्वरूपा-मुक्ति आदि की प्राप्ति में शंका ही क्या रह जाती है? इसी से तो भगवान् के देने पर भी भक्त, मुक्ति को नहीं चाहता।

भागवत कहती है :—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः" (भा० ३-२७-१३)

अर्थात् जो भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति को प्राप्त कर लेता है, वह सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, एकत्वादि पांचोंप्रकार की मुक्तियों को भगवान् के देने पर भी नहीं लेता। भक्त परम-चतुर होता है। वह समझता है कि मुक्ति के पश्चात् प्रेम-रसानुभूति कैसे होगी? हाँ, यदि भक्ति रहेगी, तो मुक्ति तो अपने आप ही दासी बनकर पैरों पर लोटा करेगी। इसीभाव को लेकर पुनः भागवत कहती है :—

"न वयं साध्वि ! साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत
वैराज्यं पारमैष्ठ्यं वा आनंत्यं वा हरेः पदम्
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजःश्रियः
कुचकुंकुमगंधाढ्यम्मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः" (भा० ४-७-१०)

अपरं चः —

"न परिलषन्ति केचिदपवर्गमीश्वरं ते चरणसरोजहंसकुलसंग-विसृष्टगृहाः" (भा० १०-८७-२१)

वास्तव में भक्ति ही ज्ञान वैराग्य की जननी है, यथा-भागवत के अनुसार :—

"जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्"

अर्थात् भक्ति ही, वैराग्य एवं निष्काम-ज्ञान को उत्पन्न करती है। यदि बिना भक्ति के ही कोई ज्ञानी बनना चाहता है, तो वह एकमात्र शाब्दिकज्ञानी ही बन सकता है, अतएव भागवत कहती है :—

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यंति ये केवलबोधलब्धये

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथास्थूलतुषावघातिनाम्" (भागवत)

अर्थात् यदि भक्ति के बिना कोई वास्तविकज्ञान के लिए परिश्रम करता है, तो वह परिणाम मे केवल कष्ट ही प्राप्त करेगा, ज्ञान नहीं। जिसप्रकार धान की भूसी को कूटने पर कुछ भी नहीं निकलता, उसीप्रकार भक्ति के बिना ज्ञान की उत्पत्ति भी असम्भव है। भक्ति ही एक ऐसी महाशक्ति है, जो सांसारिकसुख, स्वर्गलोकीयसुख, ज्ञान, वैराग्यादि तथा मोक्षादि एवं भगवद्धामादि सभी कुछ प्राप्त करा देती है। यहाँ तक कि भगवान् तक को बाँध लेती है। बस, इससे अधिक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसके प्रमाणभूत वे ही आत्माराम, पूर्णकाम, परमहंस हैं, जो ज्ञान, विज्ञान प्राप्त करके एवं मोक्ष को भी करतलगत करके भक्ति के पाने को लालायित रहते हैं। भागवत कहती है :—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने !

अर्थात् करोड़ों, सिद्ध जीवन्मुक्तपरमहंसों में भी कोई ही भाग्यशाली भगवत्प्रेमरस का पान कर पाता है। इसी भाव से पुनः भागवत कहती है :—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः (भा० १-७-१०)

भावार्थ यह कि जीवन्मुक्त, परमहंस भी श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति चाहते हैं, क्योंकि ऐसी मधुरता ही उसभक्ति एवं

भगवान् में है।

भक्तगण, परमचतुर होते हैं। अतएव वे भगवान् के देने पर भी मुक्ति नहीं लेते। राघवेन्द्रसरकार ने काकभुशुण्डि से कहा :—

"काकभुशुण्डी ! माँगु बर, अति प्रसन्न मोहिं जानि
अणिमादिक सिधि अपर निधि, मोक्ष सकल सुख खानि" (रामायण)

राघवेन्द्रसरकार की क्या ही मधुर वंचना है ! मुक्तिपर्यन्त के समस्तसुखों को देने को तैयार हैं। किंतु काकभुशुण्डि, राघवेन्द्र-सरकार से भी चतुर हैं, अतएव वे कहते हैं, "हे राम ! मैं मुक्ति नहीं चाहता, इतनी बड़ी चीज़ तो बड़े बड़े योगियों को ही मिलनी चाहिये, जिन्होंने युगोंतक घोरसाधनायें की हैं। मुझे तो :—

"अविरल भक्ति विशुद्ध तव श्रुति पुराण जेहि गाव
जेहि खोजत योगीश मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥" (रामायण)

अर्थात् यदि देना ही है, तो भुक्ति, मुक्ति पिशाचिनियों से रहित, कर्म-ज्ञानादि-आवरणों से अनावृत, घनी, विशुद्धभक्ति दीजिये। आखिरकार, राघवेन्द्रसरकार को विवश होकर अहैतुकी-विशुद्ध भक्ति देनी ही पड़ी, तथा कहना पड़ा :—

"सुनु वायस तैं परम सयाना। काहे न माँगसि अस वरदाना ॥

बात यह है कि भक्ति के दे देने पर, भगवान् को, भक्त के आधीन रहना पड़ता है, अतएव वे जी चुराते रहते हैं, क्योंकि उन्हीं की तो घोषणा है :—

"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज !
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः"

अर्थात् मैं भक्त के अधीन हो जाता हूँ, मेरी स्वतन्त्रता छिन जाती है, भक्त लोग, मेरा हृदय ही चुरा लेते हैं, मैं उन्हीं का हो जाता हूँ। यहाँ तक कि :—

"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्"

अर्थात् जितने प्रिय मुझे, मेरे भक्त हैं, उतने ब्रह्मा, शंकर, बलराम, लक्ष्मी, कहाँ तक कहें ! उतनी प्रिय मेरी आत्मा भी नहीं है। आगे चलकर भगवान् कहते हैं :—

"अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः (भा० ११-१४-१६)

अर्थात् मैं भक्तों के पीछे २ चला करता हूँ, जिससे उनकी चरणधूलि मेरे ऊपर पड़ जाय, एवं मैं पवित्र हो जाऊँ। भगवान् अपनेआप को भक्तों का ऋणी समझते हुये कहते हैं :—

"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः
या माभजन्दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥"
(भागवत)

अर्थात् हे गोपियो ! तुम लोगों ने जो लोक, वेद की अत्यन्त दृढ़बेड़ियों को काटकर, अपनेआप को मुझे अर्पण कर दिया है, उसके लिये मैं, देवताओं की आयु में भी बदला देकर उऋण नहीं हो सकता।

अब तुम, समझ गये होगे कि साधन-भक्ति द्वारा प्राप्त, फल-भक्ति की क्या महिमा है ? जिन भक्तिदेवी के आधीन, भगवान् एवं जिन भगवान् के आधीन, मुक्ति तथा जिस मुक्ति के आधीन, ज्ञान,

विज्ञान, अपरं च जिस ज्ञान, विज्ञान के आधीन, कर्मादि रहते हैं, उन भक्तिदेवी की महिमा भगवान् भी नहीं जानते, केवल भक्त ही अनुभव करते हैं।

कुछलोग कहते हैं कि भगवान् तो गोलोक, साकेतलोक, क्षीरसागर अथवा वैकुंठादि में हैं, भला, वे भक्त की इच्छा कैसे पूरी करेंगे ? वे इतना भी नहीं समझते कि भगवान्, गोलोकादि में रहते हुये भी सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वद्रष्टा एवं सर्वशक्तिमान् हैं। आदिशंकराचार्य कहते हैं :—

"सुतरामनन्यशरणाः क्षीराद्याहारमन्तरा यद्वत्
केवलया स्नेहदृशा कच्छपतनयाः प्रजीवन्ति"

अर्थात् "जिनका, कोई अन्य अवलम्ब नहीं है" ऐसे कछुई के बच्चे, जैसे माँ के दूध आदि के बिना-ही, माँ की एकमात्र प्रेममयी-दृष्टि से ही पलते हैं, वैसे ही अनन्यभक्त भी भगवान् की सर्वशक्तिमती योगमाया, की प्रेरणा से ही निश्चिन्त रहते हैं। भगवान् ही भक्तकल्पतरु बनकर उनकी इच्छा-पूर्ति करते हैं। आदिशंकराचार्य फिर कहते हैं :—

"यद्यपि गगनं शून्यं तथापि जलदामृतांशुरूपेण
चातकचकोरनाम्नोर्द्भावात्पूरयत्याशाम्"

अर्थात् यद्यपि आकाश, शून्य है, तथापि जिसप्रकार अनन्यप्रेमी चातक के लिये, बादल-रूप होकर एवं अनन्यप्रेमी चकोर के लिये, चन्द्रमा की किरणरूप होकर, उन दोनों की इच्छाओं को पूर्ण करता है, उसीप्रकार पुनः शंकराचार्य के ही शब्दों में :—

"तद्वद्व्रजतां पुंसां दृग्वाङ्मनसामगोचरोऽपिहरिः
कृपया फलत्यकस्मात्सत्यानंदामृतांशुरूपेण"

अर्थात् अनन्यभक्तों के लिये नेत्र, वाणी, मन आदि से अतीत-भगवान् भी, कृपापूर्वक, सत्य-आनन्दामृतप्रेम का दान कर देते हैं।

आदिशंकराचार्य :—

आदिशंकराचार्य, ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार हैं, जिसमें उन्होंने ज्ञान को ही प्रधान माना है, भक्ति को ज्ञान का साधन बताया है। किन्तु उनकी अन्तरंगअवस्था, श्रीकृष्ण-भक्ति के ही लक्ष्य को लेकर थी। वे विशुद्ध श्रीकृष्णभक्त थे। उन्होंने अपनी माँ को भी श्रीकृष्णभक्ति का ही उपदेश दिया था। उन्होंने श्रीकृष्णसम्बन्धी कई स्तोत्र भी बनाये थे। वे श्रीकृष्ण से ही अपने कल्याण की कामना करते थे। यह सब मैंने पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है। उनकी एक यह उक्ति मुझे अत्यन्त प्रिय है :—

"काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किंचित्फलं स्वेप्सितम्
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः
अस्माकं यदुनंदनांघ्रियुगलध्यानावधानार्थिनाम्
किं लोकेन यमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्"

अर्थात् कुछलोग, सकामउपासना के द्वारा सदा सांसारिक-अभीष्टफल की ही याचना करते हैं, कुछलोग, योग, यज्ञ, दानादि साधनों से स्वर्ग एवं मोक्षतक की कामना करते हैं, किन्तु हमें उस संसार अथवा सांसारिक सम्राट्पद अथवा स्वर्ग अथवा जितेन्द्रियता अथवा मोक्ष से क्या मतलब? हम तो एकमात्र आनन्दकन्द-

यदुनन्दन-नन्दकुमार-श्रीकृष्णचन्द्र के ही चरणकमलों के ध्यान में नित्य उन्मत्त रहने की कामना करते हैं।

अतएव स्पष्ट है कि आदिशंकराचार्य, श्रीकृष्ण के सच्चेभक्त थे। वे पुस्तकनिर्माण-रूपी औपाधिककार्य में ब्रह्मसूत्र पर भाष्य, कुछ भी लिखा करें, उनका मन तो, श्रीकृष्णचरणारविन्द-मकरन्द का ही मधुप था। उनकी उपरोक्त 'प्रबोधसुधाकर' नामक ग्रन्थ की उक्तियाँ ही स्पष्ट प्रमाण हैं। अतएव सूक्ष्मदर्शी, महानुभाव उन्हें प्रच्छन्नभक्त भी कहते हैं।

रामानुजाचार्य्य :—

रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति पर विशेष जोर दिया। उनका कहना था कि न्यासविद्या ही प्रपत्ति है, आनुकूल्य का संकल्प, एवं प्रतिकूल्यविषयों का परित्याग ही, न्यास की प्रपत्ति है, भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना ही जीव की प्रपत्ति है, सम्पूर्णभाव से भगवान् के शरणागत होना ही प्रपत्ति है। उन्हीं की कृपा से जीव को चरमशान्ति मिल सकती है, अतएव समस्तविषयों का परित्याग करके एकमात्र भगवान् की ही शरण में जाना होगा। इसीभाव को लेकर रामानुजाचार्य ने कहा है :—

पितरं मातरं दारान्पुत्रान्वधून्सखीन्गुरून्
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च
सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो ॥

अर्थात् हे प्रभो ! मैं माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता, मित्र एवं

पूज्यजन तथा रत्न, धनधान्य, भूमि, गृह, समस्तधर्म, यहां तक कि सम्पूर्णकामनाओं का भी परित्याग करके अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायक-आपके युगलचरणकमलों की शरण हूँ।

उनका कहना था कि भगवान्, समस्त जीवों के हृदय में साक्षी बनकर बैठे रहते हैं। वे पुरुषोत्तम हैं। वे ही जगत् के रचयिता एवं स्वामी हैं। जीव, उनका नित्यसेवक है। अपने व्यष्टिअहंकार को सर्वथा मिटाकर पूर्णरूप से उनकी शरण हो जाना ही, जीव का परमपुरुषार्थ है। रस्सी में साँप के भ्रम के समान संसार मिथ्या है। भगवान् हमारे माता-पिता हैं, अतएव माता-पिता की कृपा प्राप्त करना ही, संतान का धर्म है। वाणी से उनका नाम लेना चाहिये, तथा तन, मन, धन से उनकी सेवा करनी चाहिये। उनका कहना था कि जीव को निरन्तर दीनभाव से अपने समस्त अपराधों की क्षमा मांगते रहना चाहिये। ऐसा करने से वे अकारणकरुणभगवान् समस्तपापों को क्षमा कर देते हैं, एवं जीव को परमानन्द-प्राप्ति भी करा देते हैं।

निम्बार्काचार्य्य :—

इनके मत का नाम द्वैताद्वैत है। इनका कहना है कि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं। उनका सगुणरूप ही मुख्य है। इस जगत् के रूप में प्रकट होने पर भी वे निर्विकार हैं। वे जगदतीत एवं गुणातीत हैं। जगत् की सृष्टि, पालन एवं प्रलय उन्हीं से सम्बद्ध है। वे इस संसार के निमित्त एवं उपादान दोनों ही कारण हैं। संसार उनका परिणाम है, किन्तु वे अविकृत हैं। जीव,

ब्रह्म का अंश है। ब्रह्म सदा ही जीव एवं जड़ से पृथक् भी है, युक्त भी है। जीव भी ब्रह्म का परिणाम एवं नित्य है। इस सृष्टि का अभिप्राय यह है कि जीव, उनका दर्शन एवं अनुग्रह प्राप्त करे। जीव की आत्यन्तिकदु:खनिवृत्ति एवं परमानन्दप्राप्ति, भगवत्प्राप्ति से ही सम्भव है। उपासनाद्वारा ही भगवत्प्राप्ति होती है। यद्यपि ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों ही स्वरूप हैं, फिर भी जीव के चरम-कल्याण का साधन, भक्ति ही है। सदाचार आदि के द्वारा, भगवन्नाम-गुण, लीलादिश्रवणकीर्तनादि के द्वारा, जब जीव को भगवत्प्राप्ति की वास्तविक इच्छा होती है, तब जीव, वास्तविक-सद्गुरु की शरण, ग्रहण करता है, गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही, शुद्धचित्त में भक्ति का प्राकट्य करता है। यही भक्ति, जीव को भगवत्प्राप्ति कराकर सदा के लिये कृतार्थ कर देती है।

माध्वाचार्य :—

माध्वाचार्य का कहना था कि भगवान् का निरन्तर स्मरण करना चाहिये, जिससे मृत्यु के समय में भी उनका स्मरण बना रहे। बात यह है कि मृत्यु के समय में सैकड़ों बिच्छुओं के डंक मारने से भी अधिक कष्ट होता है। वात, पित्त, कफ, कंठ को घेर लेते हैं। विविधप्रकार के ममतादिबन्धनों में बँधे रहने के कारण बड़ी घबड़ाहट होती है, ऐसेसमय में भगवान् की विस्मृति हो जाती है। उनका कहना था कि समस्त जीवों को कर्मानुसार सुखदु:ख मिलेगा ही, अतएव सुख का अनुभव करते समय भी भगवान को मत भूलो, तथा दु:खकाल में भी उनकी

कृपा का अनुभव करो। वेद-शास्त्र-सम्मत मार्ग पर ही अटल रहो। कोई भी शुभकार्य करते समय दीनभाव से भगवान् का स्मरण करो। वे ही तुम्हारे सर्वस्व हैं। व्यर्थ के सांसारिकझगड़ों में अपना अमूल्यसमय नष्ट न करो। भगवान् में ही अपने मन को लीन कर दो। भगवद्विषयक विचार, श्रवण, ध्यान एवं स्तुति से बढ़कर और कुछ सार नहीं है।

भगवान् के चरणकमलों के स्मरण करने की चेष्टामात्र से समस्तपाप भस्म हो जायँगे, फिर वास्तविकस्मरण से तो मोक्षादि सभीकुछ प्राप्त हो जायगा।

हम दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक कहते हैं कि भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं। यदि वे सर्वश्रेष्ठ न होते, तो संसार, उनके आधीन न होता। यदि संसार, उनके आधीन न होता, तो जीव सदा आनन्द का ही अनुभव करता।

वल्लभाचार्य्य :—

इन्होंने पुष्टिमार्ग की स्थापना की, इन की, भागवत में वर्णित श्रीकृष्णलीलाओं में बड़ी आस्था थी। इन्होंने ब्रह्मसूत्र, भागवत, गीता को अपने पुष्टिमार्ग का ही सहायक-साधन, घोषित किया। प्रेमलक्षणाभक्ति पर विशेष जोर दिया। पुष्टि, भगवत्कृपा का प्रतीक है। इन्होंने वात्सल्यरस की भक्ति से परिप्लुत पद्धति पर जोर दिया। भगवान् के नाम-गुणगान को पुष्टिमार्ग में प्रधान मानते थे। इन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का विरोध करके यह सिद्ध किया कि जीव उतना ही सत्य है, जितना कि

ब्रह्म। फिर भी वह, ब्रह्म का अंश एवं सेवक है। अतएव उसका, ब्रह्म के प्रति दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्यभाव सहजसिद्ध हैं। उनका कहना है कि जीव, भगवद्भक्ति के बिना कल ही नहीं पा सकता। उन्होंने जीव के अणुत्व का समर्थन किया। ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होने के कारण, जगत् भी ब्रह्म की तरह ही सत् है। परमात्मा साकार है। शंकराचार्य की तरह अद्वैतमत का समर्थन करते हुये भी, जीव और ब्रह्म के शुद्धाद्वैतभाव का, उन्होंने प्रतिपादन करके भगवान् की भक्ति-प्राप्ति के लिये जीव को प्रेरित किया। लौकिक एवं वैदिक कर्मफल का त्याग, अनिवार्य बतलाया। भगवान् श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं, उनकी सेवा ही जीव का चरमलक्ष्य है। संसार की अहंता, ममता का त्याग करके, श्रीकृष्ण के चरणों में अपना सर्वस्व अर्पण कर, भक्ति के द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करनी चाहिये। उनका एक मन्त्र है :—

"सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनितताप
क्लेशानंदतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणांत
करणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना
सह समर्पयामि दासोऽहं श्रीकृष्ण ! तवास्मि"

उन्होंने बताया कि गोलोकस्थ श्रीकृष्ण की सायुज्य-प्राप्ति ही मुक्ति है। पुष्टि वह है, जो श्रीकृष्ण-प्रेम को प्रकट करती है, जिस पुष्टि का आधार भगवत्कृपा है। उनका कहना है कि गृह का सर्वथा परित्याग कर दे। यदि ऐसा न कर सके, तो वह सब कर्मों

को श्रीकृष्ण को ही अर्पित कर दिया करे।

श्री चैतन्यदेवगौरांग-महाप्रभु :—

गौरांगमहाप्रभु का अवतार शाके संवत् १४०७ की फाल्गुन शुक्लपूर्णिमा को दिन के समय सिंहलग्न में पश्चिमीबगाल के नवद्वीपग्राम में हुआ था। पिता का नाम जगन्नाथमिश्र एवं माता का नाम शचीदेवी था। इन्होंने स्वयं श्रीकृष्ण होते हुये भी, श्रीकृष्ण-भक्त बन कर श्रीकृष्णभक्ति का पूर्ण प्रचार किया।

कुछलोग इन्हें राधावतार भी कहते हैं, दोनों बात एक ही है। इनके जीवन के अंतिम ६ वर्ष, राधाभाव में ही व्यतीत हुये। उन दिनों, इनमें महाभाव के समस्त लक्षण प्रकट हुये थे। उनके प्रभाव से वासुदेव, सार्वभौम, प्रकाशानन्दसरीखे अद्वैतवेदान्ती भी किंचित्संग से ही श्रीकृष्णप्रेमी बन गये। इन्होंने नाम-संकीर्तन द्वारा श्रीकृष्णभक्ति का प्रचार किया। इनकी शिक्षा, आठ श्लोकों में वर्णित है, जो मुझे सर्वाधिक प्रिय है। आप लोगों को भी प्रिय होनी चाहियेः—

"चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम्
श्रेयःकैरवचंद्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्
आनंदांबुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम्
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्"

अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम-गुणादिकों का संकीर्तन, सर्वोपरि है, उसकी तुलना में दूसरी कोई भी साधना नहीं है, वह चित्तरूपी दर्पण को शुद्ध कर देता है, संसाररूपी घोरदावानल को बुझा

देता है, कल्याणरूपी कुमुदिनी को अपनी किरणों से विकसित करने वाला एवं आनन्द के समुद्र को बढ़ाने वाला चन्द्रमा है। विद्यारूपी वधू को जीवन देने वाला है। पद-पद पर पूर्ण अमृत का आस्वादन करानेवाला तथा सम्पूर्ण आत्मा को शान्ति एवं आनन्द की धारा में डुबा देने वाला है।

१—चेतोदर्पणमार्जनं :—यह भक्ति की पहिली भूमिका है। इसमें देहाभिमानयुक्त-अशुद्ध-अहंकार-मालिन्य हटकर श्रीकृष्णदास-रूप-शुद्धाभिमानद्वारा अन्तःकरण में निर्मलता आ जाती है।

२—भवमहादावाग्निनिर्वापणं :—यह भक्ति की दूसरी भूमिका है। इसमें विषयवासनाजन्य-दैहिक, दैविक, भौतिकतापरूपअग्नि का शमन हो जाता है।

३—श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं:—यह भक्ति की तीसरी भूमिका है। सांसारिकसुख का नाम प्रेय है, भगवत्सुख का श्रेय है, त्रितापरूपी सूर्य से, कुमुद नहीं विकसित होती, हरिनाम-चन्द्रमा की किरणों से विकसित होती है।

४—विद्यावधूजीवनं—अपराविद्या से क्षरवस्तु का ज्ञान, परा-विद्या से अक्षरवस्तु का ज्ञान होता है। अक्षरब्रह्म ही श्रीकृष्ण हैं। यही भक्ति की चौथी भूमिका है।

५—आनन्दाम्बुधिवर्धनं-आनन्दमय श्रीकृष्ण हैं, भगवद्गुण-विशिष्ट-भगवन्नाम के संसर्ग से श्रीकृष्ण का कण-स्वरूप जीव भी आनन्दमय हो जाता है। यह भक्ति की पाँचवीं भूमिका है।

६—प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं—यह भक्ति की छठीं भूमिका है। सम्पूर्णरसरूप, श्रीकृष्ण हैं, सम्पूर्णरसमयी, श्रीकृष्णभक्ति है, अतएव उस भक्ति के द्वारा प्रतिपद में सम्पूर्ण रसानुभूति होती है, जो व्यतिरेकचिन्ताशील ज्ञानादि, नीरस उपासना द्वारा, खण्डबोधपूर्वक श्रीकृष्ण की अंगज्योति-स्वरूप ब्रह्म एवं ब्रह्माण्डान्तर्गत विष्णु के अनुसन्धान में लगे हैं, उनका रस अपूर्ण है।

७—सर्वात्मस्नपनं—यह भक्ति की सातवीं भूमिका है। इस अवस्था में जीव, मायामलरहित होकर श्रीकृष्णस्नेह में सिक्त अपने शुद्धदास-स्वरूप में आ जाता है।

भक्ति—साधन—सुलभत्व :—

"नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः
एतादृशी तव कृपा भगवन्! ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुराग."

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! आप ने अपने अनन्तनामों को प्रकट कर, उनमें अपनी सम्पूर्ण शक्तियां डाल दी हैं, अर्थात् उन्हें अपने समान ही बना दिया है। साथ ही उन अनन्तनामों के स्मरण-कीर्तनादि करने का कोई समयविशेष भी निर्धारित नहीं किया है। प्रभो! आप की तो इतनी कृपा है, किन्तु मेरा दुर्भाग्य भी उतना ही प्रबल है, कि उन, आपके नामों में मेरी रुचि ही नहीं हुई। यहाँ दुर्दैव से अभिप्राय, एकमात्र नामापराध से ही है।

रीति :—

"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः"

अर्थात् नाम-संकीर्तन-साधना करने वाले को तृण से भी बढ़कर छोटा बना रहना चाहिये। पेड़ से बढ़कर भी सहनशील होना चाहिये। समस्तव्यक्तियों को सम्मान देना चाहिये. स्वयं सम्मान से दूर रहना चाहिये।

कामना :—

"न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश ! कामये
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि"

अर्थात् हे नन्दनन्दन ! मैं आप से धन, जन, स्त्री अथवा कविता आदि कुछ नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि जब जब जन्म लूं, आपके चरणकमलों में अहैतुकी भक्ति बनी रहे।

भक्त-स्वरूप-परिचय :—

"अयि नंदतनूज ! किंकरं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ
कृपया तवपादपंकजस्थितधूलीसदृशं विचिन्तय"

अर्थात् हे नन्दनन्दन ! अपार संसारसागर में डूबे हुये मुझ सेवक को, कृपापूर्वक अपने चरणकमलों में लगे हुये रजकण के समान ही समझ लो।

भक्ति-सिद्ध-बाह्यलक्षण :—

"नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति"

अर्थात् हे श्रीकृष्ण ! वह दिन कब आयेगा ? जब आपके नामों को गाते हुये हम आँसू बहायेंगे, गला रुँध जायगा, सारे शरीर में रोमांच हो जायगा।

तथा—"दीनबंधुरिति नाम ते स्मरन् यादवेन्द्र ! पतितोहमुत्सहे
भक्तवत्सलतया इति श्रुते मामकं हृदयमाशु कंपते"

अर्थात् हे श्रीकृष्ण ! जब मैं आप के दीनबन्धु नाम का स्मरण करता हूँ, तब तो मुझ पातकी को भी उत्साह होता है। किन्तु जब आपका भक्तवत्सल नाम सुनता हूँ तो भक्ति के अभाव में, मेरा हृदय काँपने लगता है।

भक्ति जब साधना से भाव पर पहुँचती है, तब स्थायीभाव धारण कर रसवती बन जाती है।

१—गौणभक्ति के रस—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स, ये सात रस हैं।

२—मुख्यरस—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, ये पांच रस हैं। मुख्यरस, भाव (आवेश) तक जाता है। इस रस की दो अवस्था होती है :—

(क) सम्भोग (मिलन)
(ख) विप्रलम्भ (वियोग)

इन दोनों में विप्रलम्भ (वियोग) अवस्था ही श्रेष्ठतर है। क्योंकि :—

"संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्मात्
संगे स इह तथैकस्त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे"

अर्थात् संयोग एवं वियोग इन दोनों अवस्थाओं में वियोग ही श्रेष्ठ है। क्योंकि संयोग में प्रेमास्पद एक ही स्थान पर, एक ही स्वरूप में दिखाई पड़ता है, किन्तु वियोग में सारा संसार ही प्रेमास्पदमय दिखाई पड़ता है। इसीलिये वियोग को श्रेष्ठ माना गया है।

विप्रलम्भ (वियोग)-पराकाष्ठा :—

"आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा
यथा तथा वा विदधातु लंपटो मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः"

अर्थात् हे लम्पट श्यामसुन्दर! तुम चाहे पूर्ण आलिंगनयुक्त-आनन्द प्रदान करो, चाहे पैरों से कुचल दो, चाहे दर्शनाभाव का असह्य विरह दे दो। तुम्हारी जो रुचि हो, करो, किन्तु मेरे तो एकमात्र प्राणनाथ, तुम्हीं हो।

अन्तरंग-लक्षण :—

"युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे"

अर्थात् श्यामसुन्दर के वियोग में, मुझे एक पल भी युग के समान मालूम पड़ता है। आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई है। सारा संसार, शून्य सा प्रतीत हो रहा है।

इसप्रकार मैंने कुछ आचार्यों के मतों को व्यक्त किया, जो कि प्रायः मेरे ही मत के अनुकूल हैं। वास्तव में मैंने जो कुछ लिखा है, मेरा व्यक्तिगत मत नहीं है। समस्तरसिकों के मतों से सम्मत-मत, जो मुझे गुरुदेव ने बताया है, वही आप लोगों के समक्ष उपस्थित किया है। आचार्यों के प्रमाण भी दे दिये गये हैं।

सत्संग

संसार में दो ही तत्त्व हैं। एक सत्य, दूसरा असत्य। सत्यवस्तु, भगवान् एवं उनके जन ही हैं। अतएव इन्हीं दोनों को, शास्त्रों में सत् शब्दसे निरूपित किया गया है। इन दोनों का श्रद्धायुक्त, मनबुद्धि-सहित संग ही सत्संग है। इसप्रकार भगवत्-संग, भगवज्जन-संग दोनों ही सत्संग सिद्ध हुआ, किन्तु विचारणीय यह है कि भगवान् का संग तो मिल नहीं सकता। यदि कहो कि अवतारकाल में तो भगवत्संग मिल सकता है, तो वहाँ भी अधिकारीविशेष की ही आवश्यकता है। हम लोग, एक दम्भी को भी, किसी अंश में महापुरुष मान सकते हैं, किन्तु किसी मनुष्य को भगवान् मानना दुःशक्य है। अतएव अवतारकाल में भी हमलोग भगवत्संग-लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। भागवत में लिखा है कि श्रीकृष्णावतार में भगवत्संग के द्वारा यमलार्जुन, गोपियों आदि को भगवल्लाभ प्राप्त हुआ था। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि वे लोग तो पूर्व में ही कृतार्थ थे। सारांश यह कि भगवत्संग के द्वारा भगवत्प्राप्ति की आशा रखना उचित नहीं है।

महापुरुष, विश्व में सदा ही रहते हैं, अर्थात् वे सदा ही सुलभ हैं। कितनी ही पतितअवस्था का जीव क्यों न हो, उसे महापुरुष अपने संग के द्वारा शुद्ध करके भगवत्संग के योग्य बना देते हैं। अतएव भगवज्जन-संग ही जीव के चरमकल्याण के

निमित्त एकमात्र अवलम्ब है। महापुरुष के द्वारा, जितना अधिक भगवत्परिचय प्राप्त हो सकता है, उतना भगवान् के द्वारा सम्भव नहीं। हाँ, जब जीव, गोपियों की अवस्था में पहुंच जायगा, तब तो सभी कुछ सम्भव है। साधारण साधकों के लिये उस अवस्था की कल्पना भी असम्भव है। अतएव भगवत्संग एवं भगवज्जन-संग स्वरूपतः दोनों ही, सत्संग होते हुये भी साधारण जीवों के कार्य के दृष्टिकोण से भगवज्जन-संग द्वारा ही सत्संग का लाभ हो सकता है।

यह स्मरण रहे कि मन-बुद्धियुक्त संग ही वास्तविक संग है, ऐसे एकक्षण के भी संग की तुलना में स्वर्गीयसुख एवं मोक्षादि-सुख कुछ भी नहीं आ सकते। भागवत, इसी भाव को लेकर कहती है :—

"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥" (भा० १-१८-१३)
सातस्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ॥

मेरी राय में तो सत्संग का इतना ही महत्व समझ लेना चाहिये कि सत्संग के बिना किसी जीव को भगवत्प्राप्ति हो ही नहीं सकती। सद्गुरु-शरणागति का भी अभिप्राय सत्संग ही तो है। दुर्वासनाओं की नष्टप्राय अवस्था में भी पहुँच कर, बिना महापुरुष सेवा एवं संग के भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। इसी भाव को लेकर भागवत कहती है :—

"नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया

भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी" (भा० १-२-१८)

जब तक निरपेक्ष महापुरुषों की चरणधूलि का अभिषेक एवं सेवन न किया जायगा, तबतक भगवच्चरणारविन्दों में जिज्ञासुओं की बुद्धि का स्पर्श ही नहीं हो सकता। जिसके बिना कुप्रवृत्तियों की निवृत्ति ही किस प्रकार सम्भव है ? कुप्रवृत्तियों का अत्यन्ताभाव तो एकमात्र भगवत्कृपा से ही होता है, तथा भगवत्कृपा एकमात्र महापुरुष कृपा पर ही अवलम्बित होती है। इसी भाव को लेकर भागवत कहती है।

"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमांघ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत्"

(भा० ७-५-३२)

यह ध्रुव सत्य है कि कितना ही घोर तप क्यों न किया जाय, कितनी ही उपासना क्यों न की जाय, कितना ही विधिवत् वेदाध्ययन क्यों न किया जाय, जल-अग्नि-सूर्य्यादि-सम्बन्धी कितनी साधना क्यों न की जाय, संसार का स्वरूपतः त्याग भी क्यों न किया जाय, अर्थात् अन्य कुछ भी क्यों न किया जाय, किन्तु बिना महापुरुषों की चरणधूलि के अभिषेक के, किसी भी प्रकार भगवल्लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। इसीभाव को लेकर भागवत कहती है :—

"रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विनामहत्पादरजोऽभिषेकात्"

(भा० ५-१२-१२)

भगवान् स्वयं अपने श्रीमुख से कहते हैं कि महापुरुषों का

संग, समस्त मायिकसंगों को नष्ट करने में जितना समर्थ है, उतना योग, सांख्य, धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या, त्याग, यज्ञ, दान, व्रत, तीर्थ, यम, नियम आदि, समस्त वैदिककर्मों में एक भी कर्म, समर्थ नहीं है, अर्थात् सत्संग को छोड़कर, अन्य किसी भी कर्म· द्वारा मुझे प्राप्त करना शक्य नहीं है। इसीभाव को लेकर भागवत कहती है :—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः
यथावरुन्धे ससंगःसर्वसंगापहो हि माम्" (भा० ११-१२-१,२)

जिसप्रकार सूर्य के सेवन करने से ठंढक भी समाप्त हो जाती है, अन्धकार-जन्य भय भी नष्ट हो जाता है, साथ ही अन्धकार का भी अत्यन्ताभाव हो जाता है, उसीप्रकार परमानन्द की प्राप्ति, त्रिविधदुःखों की आत्यंतिक-निवृत्ति, एवं अविद्या का अत्यन्ताभाव भी महापुरुषों के सेवन से ही एक साथ हो जाता है। इसीभाव को लेकर भागवत कहती है :—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा (भा० ११-२६ ३१)

इस अपार भवसागर में डूबते हुये जीवों के लिये, यदि कोई नाव है, तो वह एकमात्र सत्संग ही है। जो इस नाव का अवलम्बन छोड़कर, तैरनेरूप विविध-साधनाओं में परिश्रम कर रहा है, वह अल्पज्ञ, वासनाओं की उत्ताल-तरंगों एवं पुत्र-कलत्रादि,

मत्स्य-मकरादिकों से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकता। इसीभाव को लेकर भागवत कहती है :—

"निमज्योन्मजतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्

संतो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्" (भा० ११-२६-३२)

जिन लोगों ने शास्त्रों, वेदों का अध्ययन नहीं किया है, महान् उपासनायें भी नहीं की हैं, चान्द्रायणादि व्रत भी नहीं किये हैं, कष्टसाध्य, घोर तप भी नहीं किये हैं, वे भी महापुरुषों के संग के द्वारा, शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं। यह श्रीकृष्ण के ही श्री-मुख की वाणी है। इसका अभिप्राय यह सिद्ध हुआ कि कोई भी कर्म-धर्म-ज्ञानादिहीन मूर्ख भी, सत्संग के द्वारा भगवत्प्राप्ति कर सकता है। इसीभाव को लेकर भागवत कहती है :—

ये नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।

अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः॥" (भा० ११-१२-७)

सर्वप्रथम तो मानवदेह ही दुर्लभ है, वह ही तुलसी के शब्दों में "कबहुँक करि करुणा नरदेही, देत ईश बिनु हेतु सनेही॥" के अनुसार भगवान् की अकारणकृपा से ही प्राप्त होता है। जो मनुष्यदेह इतना अमूल्य है, वह क्षणभंगुर भी है। अतएव उसका और भी मूल्य समझना चाहिये। इसप्रकार मानवदेह ही, क्षण-भंगुर होने के कारण अमूल्य मूल्यवान् है, फिर यदि इसी देह में किसी महापुरुष का संग मिल जाय, तो कहना ही क्या है? उसके भाग्य की सीमा ही कौन बाँध सकता है? उसके ऊपर हुई, भगवान् की अकारणकृपा का अनुमान ही, कौन लगा सकता है?

सारांश यह कि इससे बड़ा अन्य कोई लाभ हो ही नहीं सकता। प्राय: लोग इस लाभ को भी पाकर भाग्य एवं भगवान् को कोसते हैं, इससे अधिक अपराध की भी कोई बात नहीं हो सकती। तुलसी के शब्दों में :—

नर तनु भवबारिधि कहँ बेरो, सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा, दुर्लभ साज सुलभ करि पावा
दोहा :—जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाय।
सो कृतनिंदक मंदमति, आतमहन गति जाय॥
सो परत्र दुःख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताय।
कालहिं, कर्महिं, ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय॥

उपरोक्त भावानुसार, मनुष्यदेह एवं उसमें भी महापुरुष-संग प्राप्त हो जाने के पश्चात्, विचारशील व्यक्ति को तो महापुरुष-कृपा, भगवत्कृपा एवं भाग्यकृपाओं को ही सोच सोचकर आनन्द में पागल हो जाना चाहिये। उसे काल, कर्म एवं ईश्वरकृपादि पर दोषारोपण करने का अधिकार ही क्या है ? उसे सब कुछ तो मिल गया है। अब अवशिष्ट ही क्या रहा ? इसी भाव को लेकर भागवत कहती है :—

"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभंगुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥" (भा० ११-२-२६)

कहां तक कहा जाय ! महापुरुषों के दर्शन, स्पर्श, पादप्रक्षालन एवं उनकी सेवा से जो फल मिलता है, उसके विषय में कहा ही क्या जाय ! महापुरुषों के स्मरणमात्र से पतित जीव, शुद्ध हो जाता

है। इसी भाव को लेकर भागवत कहती है :—

"तेषां संस्मरणात्पुंसां सद्यः शुध्यंति वै गृहाः
किंपुनर्दर्शनस्पर्शपादशौचासनादिभिः" (भा० १-१६-३३)

तात्पर्य यह कि भगवत्प्राप्ति के लिये सत्संग ही एकमात्र साधना है, किन्तु इतना विचारणीय अवश्य है कि वह, वास्तविक-महापुरुष हो, तथा उसका संग भी, श्रद्धा युक्त ही हो।

कुछलोग कहते हैं कि महापुरुष ही श्रद्धा पैदा करा देता है, किन्तु विचारणीय यह है कि श्रद्धा के बिना जीव, महापुरुष के पास जायगा ही क्यों ? हाँ, यदि किसीप्रकार श्रद्धाहीन भी, किसी महापुरुष का नित्य संग करे, तो महापुरुष धीरे धीरे श्रद्धा पैदा करा देगा। वास्तव में तो श्रद्धा की उत्पत्ति, सांसारिक विषयों के वैराग्य से ही होती है, और वह वैराग्य, सूक्ष्म एवं स्थूल संसार अर्थात् अन्तरंग त्रिगुण एवं बहिरंग सामग्री की असारता पर बारबार विचार करने से ही होता है। यह कोई कह नहीं सकता कि मैं संसार के दुःखों का बिचार कैसे करूँ ? क्योंकि प्रत्येक जीव, प्रत्येकक्षण, सांसारिक दुःखों का अनुभव कर रहा है। उसे इस विषय में शास्त्रों एवं महापुरुषों की राय लेने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि जीव सांसारिक दुःखों का अनुभव करते-करते इतना आदी हो गया है कि उसे सांसारिक कष्टों की अतिशयिता में ही कष्ट का अनुभव होता है। इसी से तो संसार की मर्मज्ञा, चतुर, कुन्ती, भगवान् से याचना करती है :—

"विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो !

भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्" (भागवत १-८-२५)·
"जन्मैश्वर्यश्रुतिश्रीभिरेधमानमदः पुमान्
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्।" (भागवत १-८-२६)

अर्थात् हे जगद्गुरु श्रीकृष्ण ! मैं आप से वरदान माँगती हूँ कि मुझे सदा ही सांसारिककष्ट मिलता रहे, जिससे हम संसार में आसक्त न हो सकें, तथा आपका निरन्तर ही स्मरण बना रहे, जिसके परिणाम-स्वरूप यह दुःखमय संसार ही न मिले। हे श्रीकृष्ण ! बात यह है कि आप दीन, हीन, अकिंचन से ही प्यार करते हैं, तथा अच्छे कुल में जन्म, सांसारिक वैभव, वेदादि विद्याभिमान, धनादि के संवर्धनशील-मद, जीव को, इतना उन्मत्त बना देते हैं कि जीव, प्रतिक्षण दुःसह दुख भोगता हुआ भी अपनेआप को दीन, हीन, अकिंचन नहीं मानता।

वास्तव में तो महापुरुषों का कार्य, श्रद्धासम्पन्न-विरक्तजीव से ही प्रारम्भ होता है, तथापि श्रद्धाहीन-व्यक्ति, नित्यसंग-प्रभाव से चिरकाल में कृतार्थ हो ही जाता है। कितने अकारणकरुण हैं महापुरुष !!! जो कि अपने अधिकार से भी नीचे उतर कर जीवों का कल्याण करते हैं। वहीं तो (श्रद्धाहीन जीवों से) बिदाई में उन्हें गालियाँ, डंडे, जूते, पत्थर आदि का पुरस्कार मिलता है। इस विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, इतिहास साक्षी है।

—: सारांश :—

अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मक-समस्तविश्व के समस्तजीव, सच्चिदानन्दमयब्रह्म के अंश हैं। अतएव स्वभावतः ही समस्त जीव, सच्चिदानन्दमय बनना चाहते हैं, एवं "जबतक उपरोक्त अवस्था-रूपी-सद्घन-चिद्घन-आनन्दघन-स्वरूप-परमानन्द नहीं प्राप्त कर लेंगे" तब तक प्रतिक्षण, उस परमानन्द के लिये प्रयत्नशील भी रहेंगे। यह निर्विवाद स्वयंसिद्ध स्वाभाविकसिद्धांत है। अतएव उस परमानन्द की प्राप्ति के निमित्त सत्य-साधना का अनुसन्धान, प्रत्येक जीव के लिये अनिवार्य हो जाता है।

संसार में न तो कोई आस्तिक है, न तो नास्तिक। यदि आस्तिक की यह परिभाषा की जाय कि आनन्दरूपी भगवान् में पूर्णविश्वास होना ही, आस्तिक का लक्षण है, तब तो संसार के समस्त जीव, एकमात्र आनन्द के ही चाहने वाले होने के कारण, स्वाभाविकरूप से ही आस्तिक हैं। यदि आस्तिक की यह परिभाषा की जाय कि भगवान्-रूपी-आनन्द में पूर्णविश्वास होना ही, आस्तिक का लक्षण है, तब तो अनादिकाल से मायाच्छन्न होने के कारण, भगवदनुभवहीन कोई भी जीव, आस्तिक बन ही नहीं सकता। बात यह है कि अनुभव ही से ज्ञान होता है, एवं ज्ञान से ही विश्वास होता है। और वह भगवदानन्दानुभव, एकमात्र

भगवत्कृपा पर ही अवलम्बित है। तात्पर्य्य यह निकला कि भगवत्कृपा के बिना, भगवत्तत्वज्ञान असम्भव है, भगवत्तत्व-ज्ञान के बिना, भगवद्-विश्वास असम्भव है। अतएव किसी भी जीव का आस्तिक बनना, भगवत्कृपा पर ही निर्भर हुआ। तुलसी के शब्दों में :—

"राम कृपा बिनु सुनु खगराई, जानि न जाय राम प्रभुताई।
जाने बिनु न होय परतीती, बिनु परतीति न होइहिं प्रीती ॥"

तथा

"तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन, जानत भगत भगत उर चन्दन"
(रामचरित मानस)

उपरोक्त विचार-विमर्श से यह सिद्ध हुआ कि अनुभवहीन-आस्तिक तो समस्त जीव हैं, किन्तु अनुभव-युक्त आस्तिक, भगवत्कृपाप्राप्त इने-गिने महापुरुष ही होते हैं। अनुभवहीन-आस्तिकों में भी दो भेद हैं। एक तो वे, जो शास्त्रों, वेदों एवं महापुरुषों के आप्तवाक्यों पर विश्वास करते हुये भगवत्कृपापात्र बनने की साधना करते हैं। दूसरे वे, जो मायिक मदों में मदोन्मत्त होकर, अमायिक महापुरुषों के आप्तवाक्यों पर विश्वास ही नहीं करते। अतएव ऐसे दुराग्रही जीवों को ही शास्त्रों ने नास्तिक बताया है, किन्तु मेरी राय में ऐसे दुराग्रही-नास्तिकों की भी नास्तिकता शाश्वत नहीं है। कभी न कभी वह स्वर्ण-दिवस आयेगा, जब कि वे भी धन, पुत्र, प्रतिष्ठादि-मदों से रहित होकर, आप्तवाणी में आस्था करने लगेंगे। साथ ही यह भी

विचारणीय है कि प्रत्येक जीव के अनन्तानन्त शुभाशुभ-संस्कार, व्यक्ताव्यक्त रूप से नित्य विद्यमान रहते हैं। हो सकता है कि जो वर्तमान क्षण में नास्तिक है, वह अगले ही क्षण में महान् आस्तिक बन जाय। बाल्मीकि आदि महापुरुषों का इतिहास साक्षी है। अतएव भगवदानन्द प्राप्त करने की वाञ्छा रखने वाले साधक को, भूल कर भी यह न सोचना चाहिये कि अमुकव्यक्ति नास्तिक है, एवं मैं आस्तिक हूँ।

आनन्द दो प्रकार का होता है। एक तो वह, जो अल्प अथवा सीमित होता है, एवं जिसके परिणाम में दुःख होता है। दूसरा वह जो, अनल्प अथवा भूमा अथवा असीम होता है, एवं अनन्तकाल तक परिणाम में आनन्द ही होता है। ससीम एवं परिणाम में दुःखप्रद आनन्द तो, सभी जीवों को प्राप्त है, जिसका क्षेत्र ब्रह्मलोकपर्य्यंत है, किन्तु इससे जीव का आनन्दानुसन्धान समाप्त नहीं हो सकता। यह सभी जीवों का अनुभवजन्य-प्रत्यक्ष विषय है।

शाश्वत, असीमसुख, एकमात्र सच्चिदानन्द भगवान् में ही है। अतएव हमें उसी सुख की खोज करनी चाहिये। भगवान् सम्बन्धी आनन्द को महापुरुषों ने दो भागों में विभक्त कर दिया है (१) ब्रह्मानन्द—इसमें जीव ब्रह्म-स्वरूप होकर आत्यंतिकदुःख-निवृत्तिरूप 'मुक्ति' प्राप्त करता है। इस मार्ग से जाने वालों को 'ज्ञानी' कहते हैं। (२) प्रेमानन्द—इसमें जीव अपनेआप को विशुद्ध-भगवद्भक्तरूप में परित करण लेता है,

एवं मायातीत होकर, आनन्द-ब्रह्म के भी मधुरतम-सारस्वरूप 'प्रेमानन्द' का द्वैतभाव में अनुभव करता है। इस मार्ग से जाने वालों को भक्त कहते हैं।

वस्तुतः 'निराकार' एवं 'साकार' ब्रह्म के प्राप्त जीव, 'ज्ञानी' एवं 'भक्त' दोनों ही मायामुक्त हो जाते हैं, किन्तु साकारब्रह्म में निराकार ब्रह्म की अपेक्षा, विशिष्ट-विलक्षण-आनन्द है। कोई भी प्रेमानन्दप्राप्त-भक्त, ब्रह्मानन्द की कामना नहीं करता, किन्तु समस्त ब्रह्मानन्दप्राप्तपरमहंस, सदा ही 'प्रेमानन्द' की कामना करते हैं। शंकरादिक, सनकादिक, जनकादिक, शुकादिक प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त एक विशेष विचारणीय बात और भी है, वह यह कि साधन-चतुष्टय-सम्पन्न, मुमुक्षु जीव ही निराकारब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानमार्ग का अधिकारी होता है, अतएव अधिकारित्व के दृष्टिकोण से भी ज्ञान-मार्ग क्लिष्ट है। यदि अधिकारी बन भी जाय, तब भी साधना में अत्यंत क्लिष्टता है। यदि साधना बन भी जाय, तब भी परिणाम में सिद्धि-स्वरूपा-मुक्ति ही प्राप्त होती है, जिसमें आनन्दानुभव करने वाले का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार परमबुद्धिमानों के दृष्टिकोण से 'भक्ति-मार्ग' ही सरलतर, श्रेष्ठतर एवं मधुरतर सिद्ध है। कलिमल-ग्रसित जीवों के निमित्त तो, इनेगिने योगभ्रष्ट संस्कारियों को छोड़ कर ज्ञानमार्ग की कल्पना भी भयावह है। यदि कोई दुराग्रहवश, अनधिकार-चेष्टा करेगा, तो परिणाम में भगवदानन्द के बजाय मिथ्याभिमानानन्द का ही अनुभव कर पायेगा। अतएव समस्त

नातिसक्त, नातिविरक्त जीवों को भक्ति-मार्ग का ही आश्रय लेना चाहिये।

परात्पर, सर्वशक्तिमान, भगवान् के अनन्तानन्त सगुण, साकार, अवतार-स्वरूप हैं, किन्तु चरम-प्रेमानन्द के प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों के लिये, सर्वाधिकमधुरतमअवतार-स्वरूप आनन्दकन्द-सच्चिदानन्द—अनन्तकोटिकन्दर्पलावण्ययुक्त-ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचंद्र ही हैं। उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र की आत्मा स्वरूपा, वृषभानुनन्दिनी राधिका जी हैं। सिद्धान्ततः राधाकृष्ण, परस्पर अभिन्न होते हुये भी लीला-माधुर्य्य के दृष्टिकोण से कुछ अपनी औपाधिक भिन्नता रखते हैं। इस भिन्नता के अनुसार, राधिकाजी का विशेष महत्व है, किन्तु भूलकर भी इन दोनों को वास्तविक दृष्टिकोण से पृथक् न समझना चाहिये। इस प्रकार राधाकृष्ण-प्रेम प्राप्त करना ही जीव का परमचरमलक्ष्य सिद्ध हुआ।

भक्ति या प्रेम, आनन्दब्रह्म की सारांशभूता ह्लादिनी-शक्ति, एवं ह्लादिनी-शक्ति के भी सारभूत तत्व का नाम है। 'प्रेम' साधन-सिद्ध नहीं है, वरन् स्वयंसिद्ध है। जोकि एकमात्र हरि, हरिजन, कृपा से ही प्राप्त होता है, किन्तु उस कृपा के अधिकारी बनने के हेतु जीव को साधना करनी पड़ती है, जिसे उपासना कहते हैं। यह उपासना आर्त, जिज्ञासु अर्थार्थी, ज्ञानी आदि कई प्रकार की होती हुई भी, वस्तुतः दो ही प्रकार की होती है, जिसे सकाम एवं निष्काम उपासना भी कहते हैं।

मोक्षपर्यन्त की किसी भी कामना की भावना से उपासना करने का नाम ही, सकामता है, एवं भगवत्प्रीत्यर्थ-उपासना करने का नाम ही, निष्कामता है। सकाम उपासना, साधक के लिये महान् हानिकारक है, यह मैंने पूर्व में ही स्पष्ट कर दिया है। अतएव प्रत्येक जीव को राधाकृष्ण का निष्काम-प्रेम प्राप्त करना ही, एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये।

श्रीकृष्ण की उपासना, शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य्य, इन्हीं पांच भावों से की जाती है। इन भावों में शान्तादि भावों से आगामी भाव, उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, एवं कान्तादि-उत्तरोत्तरभावों में, पिछले सभी पूर्वभावों का समावेश है। इसप्रकार कान्त या माधुर्य्यभाव में पिछले समस्तभावों का समावेश सिद्ध हुआ। अतएव राधाकृष्ण का माधुर्य्य-भावयुक्त निष्काम-प्रेम प्राप्त करना ही, जीव का चरम-लक्ष्य होना चाहिये।

अब विचारणीय यह है कि उपरोक्त लक्ष्यपूर्ति किस प्रकार हो? सर्वप्रथम, मायिक-संसार का स्वरूप भलीभांति समझ कर, वहां से मन-बुद्धि को हटाना होगा। अर्थात् संसार की क्षण-भंगुरता एवं नश्वरता पर बार बार विचार करते हुये वैराग्य-लाभ प्राप्त करना होगा। यद्यपि यह वैराग्य, विशुद्ध वैराग्य नहीं होगा, तथापि प्रथम, इसी प्राथमिक-वैराग्य से ही काम लेना होगा। सारांश यह कि जब मायिक विषयों से बार बार विचार द्वारा घृणा हो जायगी, तभी मन-बुद्धि खाली होगा, एवं तभी भगवद्-विषयक आनन्दानुसन्धान के निमित्त वास्तविक उत्कण्ठा उत्पन्न

होगी, जिसे शास्त्रों में सर्वत्र, श्रद्धा नाम से कहा गया है।

अब श्रद्धालुजीव को, किसी वास्तविक महापुरुष की शरणागति ग्रहण करनी पड़ेगी। यह निर्विवाद सिद्ध है कि बिना महापुरुष-शरणागति के भगवद्विषयक साधना का श्रीगणेश ही नहीं हो सकता। यदि अभिमानवश स्वयंकल्पित कोई साधना की भी जायगी, तब भी भगवत्प्रेम-लाभ से वञ्चित ही रहना होगा। महापुरुषों के पहिचानने में बड़ी ही सावधानी की आवश्यकता है। उनके बहिरंग आहार-व्यवहार, वेश-भूषा, रहन-सहन पर विचार न करते हुये अंतरंग-प्रेम के सात्विक-भावों द्वारा, कुछ दिन निरन्तर संग करके ही, श्रद्धा-सम्पत्ति के द्वारा परखना चाहिये। जब महापुरुष, परखने में आ जाँय, तब शरणागति के छहों अंगों से युक्त होकर, उनके शरणागत हो जाना चाहिये। तत्पश्चात् अपनी बागडोर उन्हीं के हाथ में सौंप कर उनके आदेशानुसार ही साधना करनी चाहिये। शरणागति के पश्चात् ही जीव से महापुरुष का शिष्य-गुरु सम्बन्ध स्थापित होता है, जो कि अन्तःकरण-शुद्धि पर प्रेमदान-द्वारा परिपक्व होता है। यह आत्मसमर्पण, मन-बुद्धि-समर्पण युक्त ही होता है। यही सबसे बड़ी समस्या है। अतएव साधक को शरणागति पर प्रमुखतया ध्यान देना चाहिये।

मेरी राय में एवं पूर्वमहापुरुषों की भी सम्मति में, निम्नलिखित साधना ही सर्वसुगम है। संस्कारादि के अनुसार, सद्गुरु-द्वारा निर्दिष्ट अन्य साधनायें भी की जा सकती हैं, किन्तु यह विशेषनियम किसी किसी संस्कारी के लिये ही लागू होता है।

श्रवण-कीर्तनादि-नवधा उपासनाओं में भी संकीर्तन, सर्वाधिकसुगम एवं शीघ्रातिशीघ्र लाभ प्रदान कराने वाली है। संकीर्तन से अभिप्राय है राधाकृष्ण के नाम, लीला, गुण, रूपादि के उच्च-स्वर गान से। विशेष बिचारणीय यह है कि राधाकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम एवं उनके भक्त, सभी परस्पर एक हैं। किसी भी नाम गुणादि का अवलम्बन, साधक ले सकता है। सभी नाम, गुणादि में भगवान् की समस्त शक्तियों का नित्य-निवास रहता है।

रूप-ध्यान सभी नाम, रूप, लीला, गुणादि-गान में अत्यन्त अनिवार्य है। क्योंकि रूप-ध्यान के बिना, मन को ठहराने का कोई उपाय ही नहीं है, एवं बिना मन के लगाव के, शीघ्र रसानुभूति भी सम्भव नहीं। रूप-ध्यान में भगवच्छक्ति-विशिष्ट-दिव्य-चिन्मय देह का ही चिन्तन होना चाहिये। सहायतार्थ-चित्र अथवा मूर्ति अथवा मानसिक रूप से ही, किसी भी प्रकार का अवलम्ब, "जिसके लिये जो अनुकूल पड़े" ले लेना चाहिये। राधाकृष्ण का अथवा केवल राधिकाजी का अथवा केवल श्रीकृष्ण का भी रूप-ध्यान कर सकते हो। जब राधाकृष्ण में से किसी एक का रूप-ध्यान करो, तब दूसरे को, उसी के भीतर स्थापित कर दो, ताकि तुम्हारा औपाधिक-संकोच भी समाप्त हो जाय। रूप-ध्यान में यदि सर्वांग का ध्यान, पूर्व में न हो सके, तो किसी एक अंग का ध्यान भी कर सकते हो। बार बार अभ्यास करने से रूप-ध्यान परिपक्व होता है। रूप-ध्यान में नवजात-बालक-श्रीकृष्ण से लेकर

सोलह-वर्ष के किशोर-श्रीकृष्ण तक ही की आयु रखनी चाहिये।

रूप-ध्यान द्वारा राधाकृष्ण को अपने समक्ष, साक्षात् समझते हुये उनके नाम, गुण, लीला आदि का संकीर्तन करना चाहिये। विशेष बात यह है कि अपनेआप को सर्वथा दीन, हीन, अकिंचन समझना चाहिये। अनन्तानन्तजन्मों के अनन्तानन्तअपराधों को सोच कर, श्रीकृष्ण-मिलन के लिये, परमव्याकुलता उत्पन्न करनी चाहिये, एवं उनसे अपने अपराधों की करुण-क्रन्दन-पूर्वक, क्षमा माँगते रहना चाहिये। दीन-भाव-युक्त नाम, गुण, लीलादि का संकीर्तन करते हुये ही, हम आँसुओंद्वारा अन्तःकरण, शुद्ध कर सकेंगे।

उपासना में राधाकृष्ण के प्रति अनन्य-भाव भी परमावश्यक है। अर्थात् राधाकृष्ण एवं उनके नाम, गुण, लीला, धाम, जन के अतिरिक्त कहीं भी मन का लगाव न होना ही अनन्य-भाव की उपासना है।

साधना के साथ साथ, बाधक विषयों से बचना भी परमावश्यक है। उन्हीं बाधक विषयों को शास्त्रकार 'कुसंग' के नाम से पुकारते हैं। भगवद्-विषय के अतिरिक्त एवं भगवद्-विषय में भी महापुरुष के आदेश के अतिरिक्त, कहीं भी मन-बुद्धि का संग होना कुसंग हैं। यह कुसंग अत्यंत ही विचित्र मधुर-विष है, जो कि हजारों वर्ष की साधना को भी, एक क्षण में नष्ट कर देता है। कुसंग में परदोष-दर्शन परम प्रमुख है, क्योंकि इसी से परनिन्दा आदि की उत्पत्ति होती है। अन्तरंग सतोगुण,

रजोगुण, तमोगुण रूपी हृदयस्थविषयों को बढ़ाने वाले, जितने भी सांसारिक-वाह्य-विषय उपकरण हैं, उनसे जहाँ तक हो सके स्वरूपतः भी दूर ही रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त लोक-रंजन रूपी महाव्याधि से भी सावधान रहना चाहिये। ये सब दीनता के शत्रु हैं। विशेष-विवरण, पुस्तक के कुसंग के प्रकरण में पढ़ लेना।

सबसे प्रमुख एवं सबसे महान् अपराध, नामापराध है। नामापराधों में भी भक्तों के प्रति किया हुआ अपराध तो, भगवान् से सर्वथा ही असह्य एवं अक्षम्य है। अतएव हम निन्दनीय पर भी दुर्भावना न करें। अन्यथा कहीं न कहीं नामापराध के शिकार अवश्य हो जायँगे।

इसप्रकार कुसंगों से बचते हुये महापुरुष के आदेश-पालन में पूर्णरूप से तत्पर रहना चाहिये। निराशा होना, शरणागति के विपरीत है। हठयोगादि के द्वारा भोजनादि छोड़ कर प्राण-परित्याग करने की सोचना, अथवा अन्य कोई विपरीत-कार्य करना, महापुरुष का अपमान करना है। सारांश यह कि महापुरुष-आदेश से पृथक् कोई कल्पना भी करना महान् घातक है। महापुरुष एवं भगवान् में इसप्रकार का दोषारोपण करना भी अपराध है कि वे हमारे ऊपर कृपा नहीं करते। साधक को सदा अपने में ही दोष देखना चाहिये, एवं उसकी पूर्ति के लिये प्रयत्न भी करना चाहिये। धीरे धीरे हरि, हरिजन-कृपा से सब ठीक हो जायगा। घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं।

देवी मैया !

श्रीराधाकृष्ण ही तुम्हारे सर्वस्व हैं। उन्हें बिलकुल ही अपना समझो। यह न सोचो कि वे तो परात्पर सर्वशक्तिमान भगवान् आदि हैं। वे सदा अपने दोनों हाथों को पसारे हुये तुम्हारे लिये खड़े हैं। केवल तुम एक बार समस्त सांसारिक विषयों से मुँह मोड़कर उनकी ओर देख दो। बस, फिर वे तुम्हारे एवं तुम उनके हो जावोगे। वे तो अकारण करुण हैं, कुछ साधनादि की भी अपेक्षा नहीं रखते। उनका तो स्वभाव ही है अकारण कृपा करने का। दृढ़ विश्वास करलो, बस, काम बन जाय। तुम अपने आप को सदा के लिये उनके हाथों बेच दो, वे सब ठीक कर लेंगे। देखो उन्होंने महान् से महान् पापियों को भी हृदय से लगाया है; फिर तुम्हें क्यों अविश्वास तथा संकोच है। एक बार ऐसा करके तो देखो।

तुम्हारा

कृपालुदास